



उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी

CAFN - 01

सर्टिफिकेट कोर्स इन आयुर्वेदिक फुड एण्ड न्यूट्रिशन

आयुर्वेद

विशेषज्ञ समिति

डा० वी० पी० उपाध्याय
प्राचार्य, हिमालयीय आयुर्वेदिक कालेज
श्यामपुर, ऋषिकेश

डा० एन० पी० सिंह
निदेशक, स्वास्थ्य विज्ञान विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,

प्रो० आर० बी० सती
रोग एवं विकृति विज्ञान विभाग
ऋषिकुल राजकीय आयुर्वेदिक कालेज
हरिद्वार

डा० जे० एन० नौटियाल
पंचकर्म विशेषज्ञ
दून चिकित्सालय देहरादून

डा० वन्दना पाठक
आयुर्वेदिक मेडिकल आफिसर
कानपुर

डा० सी० एस० भागवत
पूर्व रीडर द्रव्यगुण विभाग
आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज
झांसी

डा० सोहन खण्डूरी
शैक्षिक परामर्शदाता (अंशकालिक)
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,

डा० समीर सिंह
लेक्चरर
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी, नैनीताल

कार्यक्रम समन्वयक

डा० समीर सिंह

डा० सोहन खण्डूरी

पाठ्यक्रम लेखन एवं सामग्री संकलन

डॉ० डी०पी० मिश्रा
शल्य विभाग, हिमालय आयुर्वेदिक कॉलेज
ऋषिकेश

डॉ० समीर सिंह
लेक्चरर
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

पाठ्यक्रम सम्पादन

डॉ० आर०बी० सती
रोग एवं विकृति विज्ञान विभाग
ऋषिकुल राजकीय आयुर्वेदिक कालेज, हरिद्वार

कुलसचिव उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से मुद्रित एवं प्रकाशित।

मुद्रक

उत्तरायण प्रकाशन, हल्द्वानी

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

सर्वधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिये बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है। अधिक जानकारी उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, नैनीताल से प्राप्त कर सकते हैं।

नोट— पाठ्यक्रम से संबंधित आपके सुझावों का हम स्वागत करते हैं। कृपया अपने सुझाव हमें इस पते पर भेजें—स्वास्थ्य विज्ञान विभाग, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, नैनीताल।



उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी

CAFN - 01

सर्टिफिकेट कोर्स इन आयुर्वेदिक फुड एण्ड न्यूट्रिशन
आयुर्वेद

इकाई - 1

परिभाषा, महत्व तथा इतिहास (संक्षिप्त में),

आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त, उद्देश्य एवं स्वस्थ्यवृत्त - 01

इकाई - 2

आयुर्वेद का आहारिय चिकित्सा पद्धति में योगदान

- 33

इकाई - 3

घरेलू जड़ी-बूटियाँ तथा उनका औषधीय उपयोग

- 50

इकाई - 4

पोषक तत्वों के आयुर्वेदिक स्रोत

- 73

इकाई – 1

आयुर्वेद इतिहास एवं अवतरण

सभी प्राणी स्वस्थ एवं दीर्घ जीवन की कामना करते हैं। स्वस्थ रहकर ही दीर्घ जीवन सम्भव है, तथापि यदि प्राणिमात्र रोगग्रस्त हो जाता है तो अनेक प्रकार के चिकित्सा उपायों के द्वारा रोगमुक्त अर्थात् पुनः स्वस्थ होने के प्रयत्न किये जाते हैं। आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान के द्वारा रोग मुक्ति सम्भव है यही आयुर्वेद का प्रयोजन भी है “प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणं आतुरस्य विकार प्रशमनं च”। चरक संहिता

उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह अनुमान है कि सृष्टि के प्रारम्भ के साथ ही स्वस्थ स्वास्थ्य का संरक्षण तथा आतुर (रोग ग्रस्त) के रोग की मुक्ति के उपाय सुझाने वाले चिकित्सा शास्त्र – आयुर्वेद की भी उत्पत्ति हुई। यह अनुमान है कि सृष्टि के रचियता ब्रह्मा ने ही आयुर्वेद की भी रचना की तथा उन्होंने दक्षप्रजापति को इसका उपदेश दिया। दक्ष प्रजापति ने अश्विनी कुमारों को आयुर्वेद की शिक्षा दी तथा अश्विनी कुमारों से इन्द्र ने आयुर्वेद के ज्ञान को प्राप्त किया, ब्रह्मा से लेकर इन्द्र तक की शिक्षण परम्परा देव उपदेश’ कही जाती है।

इन्द्र से आयुर्वेद चिकित्सा का ज्ञान महर्षि भारद्वाज ने त्रिसूत्र रूप में प्राप्त किया। ये त्रिसूत्र ये ‘हेतु’ अर्थात् रोग उत्पन्न होने के विभिन्न निदान (**Aetiological factors**); लिङ्ग’ अर्थात् रोगों के रूप (**clinical features**) एवं तृतीय सूत्र

औषधज्ञान' अर्थात् विभिन्न व्याधियों के विभिन्न चिकित्सा उपाय। महर्षि भारद्वाज ने आत्रेय आदि ऋषियों को आयुर्वेद का उपदेश दिया,पुनर्वसु – आत्रेय ने अपने प्रमुख छः शिष्यों अग्निवेश, भेल, जतुकर्ण, पाराशर, हारीत और क्षारपाणि को आयुर्वेद की शिक्षा दी। यह आयुर्वेद का लौकिक उपदेश क्रम है तथा पुनर्वसु आत्रेय तक मौखिक शिक्षण की परम्परा थी।

आत्रेय के शिष्यों ने आयुर्वेद ज्ञान को लिपिबद्ध किया तथा अपने-अपने नाम से संहिताओं (चिकित्सा ग्रन्थों) का निर्माण किया। अग्निवेश ने अपने नाम से अग्निवेश संहिता लिखी तथा उक्त चिकित्सा ग्रन्थ "चरक संहिता के" के नाम से ही प्रचलित एवं प्रसिद्ध है।

वेदों में आयुर्वेद

संसार के प्राचीनतम ग्रन्थों में ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद एवं सामवेद हैं। अन्य इन चारों वेदों में यत्र-तत्र आयुर्वेद चिकित्सा का भी वर्णन है। अथर्ववेद में आयुर्वेद में आयुर्वेद का विस्तृत वर्णन मिलता है तथा आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद माना गया है।

आयुर्वेद के प्रमुख ग्रन्थ

आयुर्वेद में उपलब्ध चिकित्सा ग्रन्थों को बृहत्त्रयी एवं लघुत्रयी कहा गया है।

चरकसंहिता , सुश्रुतसंहिता तथा अष्टांग हृदय की गणना बृहत्त्रयी" में की जाती है।

सुश्रुत संहिता – महर्षि सुश्रुत ने धन्वन्तरि के उपदेशों को संगृहीत कर सुश्रुत संहिता का निर्माण किया। यह शल्य चिकित्सा प्रधान ग्रन्थ है।

सुश्रुत संहिता के स्थान एवं अध्याय—

- 1 सूत्रस्थान – 46
- 2 निदान स्थान – 16
- 3 शारीर स्थान – 10
- 4 चिकित्सा स्थान— 40
- 5 कल्प स्थान – 08

यन्त्र—शस्त्रों का वर्णन, शस्त्र कर्म विधि, अश्मरी, अर्श, मूत्रवृद्धि और जलोदर में शस्त्र प्रयोग का विधान, व्रण के आठ उपक्रम और व्रणबन्धों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। इस ग्रंथ में क्षार, अग्नि, जलौका आदि का वर्णन है। रक्त निर्हरण के लिये सिराव्यध, शृंग, जलौका और प्रछान्न का विधान है।

2. चरक संहिता –

इस संहिता का मूल नाम अग्निवेशतन्त्र था, जिसका निर्माण अग्निवेश ने किया था। सबसे पहले इन्होंने ही आत्रेय के उपदेशों का संकलन किया। वह संकलन सूत्ररूप में संक्षिप्त था, जिसका प्रतिसंस्कार चरक ने किया और अनेक नवीन विषयों का समावेश कर अग्निवेशतंत्र का उपबृंहण किया। पुनः दृढबल ने

चरक संहिता को प्रतिपूरति कर वर्तमान समय में उपलब्ध चरकसंहिता को यह स्वरूप प्रदान किया।

चरक संहिता के स्थान –

सूत्र स्थान – 30

निदान स्थान – 8

विमान स्थान – 8

शारीर स्थान–

इन्द्रिय स्थान – 12

चिकित्सा स्थान –30

कल्प स्थान – 12

सिद्धि स्थान– 12

अष्टांग हृदय–

ग्रन्थकार वाग्भट ने इस ग्रन्थ को आयुर्वेद वाग्मय रूपी समुद्र का हृदय कहा है।

यह संहिता आयुर्वेदीय चिकित्सा के व्यवहारिक रूप को प्रकट करती है। इसमें आयुर्वेद के दोनों ही प्रमुख सम्प्रदायों काय चिकित्सा तथा शल्य चिकित्सा के उपयोगी विषयों का वर्णन किया गया है।

लघुत्रयी – आयुर्वेदीय विषयों को सामान्य शिष्यजनों को ग्राह्य बनाने के लिए जिन ग्रन्थों का निर्माण किया गया उन्हें लघुत्रयी नाम से जाना जाता है।

लघुत्रयी के प्रमुख ग्रंथ हैं....

1. माधव निदान
2. शार्ङ्गधर संहिता
3. भाव प्रकाश

माधवनिदान :-

इस ग्रन्थ का वास्तविक नाम रोग विनिश्चय है और इसके रचयिता माधवकर हैं। यह ग्रन्थ सरल और सुबोध शैली में लिखा गया था ताकि सामान्य चिकित्सक अल्प समय तथा अल्प श्रम करके सुख पूर्वक रोगों का ज्ञान कर सकें। इस ग्रन्थ में रोगविनिश्चय (**Diagnosis**) को विशेष महत्व देते हुए व्याधि के निदान, पूर्वरूप, रूप आदि का वर्णन है, अतएव यह युक्ति प्रचलित है – 'निदाने माधवः श्रेष्ठः' ।

2. शार्ङ्गधरसंहिता

शार्ङ्गधर नाम के अनेक आचार्य हुये हैं। इनमें दामोदर के पुत्र शार्ङ्गधर जो वैद्य थे उन्होंने सोढल (12वीं शताब्दी) की शैली पर शार्ङ्गधर संहिता की रचना की। बत्तीस अध्यायों निहित यह संहिता तीन खण्डों में विभक्त है— पूर्वार्ध, मध्य एवं उत्तर। इस संहिता में रसशास्त्रीय औषधियाँ और औषध कल्पनायें तथा

नाड़ी-परीक्षा रोग विज्ञान के उपाय के रूप में समाविष्ट किया गया है, और नानाविध चिकित्सा का व्यवहारिक रूप से वर्णन किया गया है।

भाव प्रकाश (सोलहवीं शताब्दी)–

इस ग्रन्थ के रचयिता भावमिश्र हैं। इन्होंने प्राचीन संहिताओं के मार्ग पर चलते हुए नवीन विचारों तथा नवीन द्रव्यों का उल्लेख किया है। लघुत्रयी में यह अन्तिम और महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

इस ग्रन्थ में औषधीय पादपों का विस्तृत वर्णन है।

अठारवी शती में एक और चिकित्सा ग्रन्थ योग रत्नाकर की संरचना की गयी इसमें अष्ट विध रोगी परीक्षा—नाड़ी परीक्षा, मूत्र परीक्षा, मल परीक्षा, जिह्वा परीक्षा, शब्द परीक्षा, दृग्परीक्षा एवं आकृति इस प्रकार रोगी परीक्षा को अधिक प्रयोगिक बनाने का प्रयत्न किया गया।

देशान्तरों से आयुर्वेद का सम्बन्ध –

सुश्रुत संहिता के टीकाकार डल्हण ने सुश्रुत के सहपाठी के रूप में वाल्हीक देश के श्रेष्ठ चिकित्सक के रूप में कांकायन का नाम उल्लेख किया है। इन उल्लेखों से यह प्रतीत होता है कि कांकायन अन्य देशवासी होते हुए भी भारतीय चिकित्सकों के सहचर्य थे। चरक संहिता में कांकायन को वाल्हीक भिषक् कहा गया है। प्राचीन बाहलीक देश में वलख, तुर्किस्तान, ईरान आदि सम्मिलित थे, उसी का

नाम अरब था। उसी देश में प्रचलित यूनानी चिकित्सा पद्धति के सम्भवतः यही प्रथम आचार्य थे। वाल्हीक देश के मुख्य चिकित्सक के रूप में प्रसिद्ध कांकायनाचार्य दिवोदास के शिष्य रूप में निर्देश मिलता है। जिससे यह तथ्य बलवती होता है कि केवल भारतवर्ष में ही नहीं अपितु अन्य देशों में भी एक आदर्श चिकित्सा के रूप में आयुर्वेदीय चिकित्सा प्रचलित थी और अन्य देश के जिज्ञासु शिष्य इस विद्या के अध्ययन के लिए यहाँ आते थे।

चीन में प्रचलित चिकित्सा पद्धति के प्रथम आचार्य महर्षि पैंगि थे और यूरोप देश की चिकित्सा पद्धति के प्रथम आचार्य थे— हिरण्याक्ष (सुवर्णाभिनेत्रो या पीली आखों वाला)। इनका भारतीय चिकित्सा के साथ सम्पर्क था।

दक्षिण भारत में आयुर्वेद चिकित्सा के प्रथम आचार्य महर्षि अगस्त थे। लंका के अधिपति पुलस्त्य एक उच्च कोटि के चिकित्सा शास्त्री थे इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। उनके पौत्र रावण नाड़ी विज्ञान के प्रकाण्ड पण्डित थे और उनके नाड़ी दर्शन आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं। महर्षि बादरायण भी आयुर्वेदज्ञ ऋषि थे जो वेदव्यास के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके गरुड़पुराण, अग्निपुराण आदि ग्रन्थों में यत्र—तत्र प्रचुर रूप में आयुर्वेदीय विषयों के वर्णन हैं। काश्यप संहिता बाल चिकित्सा से सम्बन्धित उत्कृष्ट ग्रन्थ है काश्यप संहिता के अंश ताड़फा रूप में नेपाल राजगुरु पं० हेमराजशर्मा को प्राप्त हुए थे तथा उन्होंने इसका प्रकाशन कराया था राजगुरु द्वारा लिखित विस्तृत उपोद्घात का वाराणसी से प्रकाशन हुआ है।

आयुर्वेद की सामाजिक स्थिति—

यवन राज्य स्थापित होने के पूर्व तक हिन्दू राज्य में आयुर्वेद का पालन पोषण समुचित रूप से होता था। जन साधारण आयुर्वेद की चिकित्सा कराता था।

मध्यकाल में मुस्लिम शासन कायम होने पर शासन की ओर से यूनानी चिकित्सा पद्धति को प्रश्रय मिला और आयुर्वेद चिकित्सा के विकास की गति धीमी हो गयी। अंग्रेजी राज्य स्थापित होने पर राज्याश्रय एलोपैथी को मिला। देशी राजाओं के संरक्षण में संस्कृत कालेजों में आयुर्वेद की भी शिक्षा और यत्र तत्र औषधालय भी चलते रहे।

सन् 1833 में लार्ड विलियम वेंटिक ने चिकित्सा विज्ञान के शिक्षण हेतु एक समिति गठन की और शिक्षा अंग्रेजी माध्यम से होने और मेडिकल कालेज स्थापित करने की सिफारिश की तथा संस्कृत विद्यालय, आयुर्वेद एवं यूनानी विद्यालय बन्द कर दिये गये।

सन् 1920 ई० में आल इण्डिया काँग्रेस ने एक प्रस्ताव पास किया कि भारत में प्रचलित देशी चिकित्सा पद्धति को विकसित किया जाये। तब सरकार ने देशी चिकित्सा पद्धति की जांच की और उसके उत्थान के लिए कतिपय कमेटियाँ गठित की।

आयुर्वेद की शिक्षा तथा व्यवसाय की उचित व्यवस्था के लिए राज्य सरकार ने भारतीय चिकित्सा परिषदों की स्थापना की। भारतीय चिकित्सा परिषद् की स्थापना फरवरी 1926 में हुई। इस सम्बन्ध में विधिवत् रूप से सन् 1939 में इण्डियन मेडिसिन एक्ट पारित हुआ

सन् 1909 में प्रथम भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद का गठन किया गया।

आयुर्वेद की परिभाषा, उद्देश्य एवं विभाग –

आयुर्वेद शब्द दो शब्दों के योग से बना है –

आयुः + वेद = आयुर्वेद। आयु के वेद को आयुर्वेद कहते हैं – ‘आयुषो वेदः आयुर्वेदः’। आयु और वेद शब्दों के अलग-अलग अर्थज्ञान के पश्चात् आयुर्वेद शब्द का वास्तविक अर्थ जाना जा सकता है,

आयु का स्वरूप –

शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगोधारि जीवितम्।

नित्यगच्चानुबन्धञ्च पर्यायैरायुरूच्यते।। (च0सू0 1/42)

शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा के संयोग को ‘आयु’ कहते हैं। कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राण ये ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाती हैं, वाणी, हाथ, पैर, मलद्वार और मूत्रमार्ग ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। मन को उभयात्मक इन्द्रिय कहते हैं, क्योंकि मन को ज्ञान और कर्म दोनों होते हैं। ज्ञान का अधिकरण तथा ज्ञान का प्रति संधाता आत्मा होता है।

इन शरीर, इन्द्रिय मन एवं आत्मा का जो संयोग होता है, वही संयुक्त स्वरूप से आयु कहलाता है। चैतन्य की स्थिति को आयु कहते हैं।

‘चैतन्यानुवर्तनमायुः’।

वेद शब्द का अर्थ – ‘वेद’ शब्द का अर्थ है – ज्ञान। संस्कृत के विद् धातु से वेद शब्द बना है।

इस प्रकार आयु और वेद दोनों शब्दों की व्याख्या के पश्चात ‘आयुर्वेद’ शब्द का अर्थ है – जिस शास्त्र में आयु का अस्तित्व हो, जिससे आयु का ज्ञान हो, जिससे आयु सम्बन्धी विचार हो और जिससे आयु की प्राप्ति हो, उस शास्त्र को ‘आयुर्वेद’ कहते हैं।

आयुर्वेद की परिभाषा –

“हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।

मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते।।

(च०सू० 1/41)

जिस शास्त्र में 1. हितायु 2. अहितायु 3. सुखायु 4. दुःखायु का वर्णन हो, आयु के लिये हितकर तथा अहितकर द्रव्य, गुण, एवं कर्म का वर्णन हो, आयु के प्रभाव का विवेचन और आयु के स्वरूप का वर्णन किया जाता है, उसे आयुर्वेद कहते हैं।

आयुर्वेद का उद्देश्य –

आयुर्वेद शास्त्र आयु की व्याख्या करता है। यह दीर्घ और आरोग्यमय आयु की प्राप्ति का मार्ग निर्दिष्ट करता है। आयु की स्थिरता और स्वास्थ्य संरक्षण एवं व्याधि परिमोक्षण यही इसका उद्देश्य है।

आयु का मान – पुरुष की प्रकृति, विकृति, धातुओं की सारता (रस, रक्त, मांससार आदि) शरीर की बनावट, अनुकूलता, मनःस्थिति, आहार-शक्ति, व्यायाम-शक्ति आदि को देखकर उसके दीर्घायु या अल्पायु होने की परीक्षा की जाती है। सामान्यतया घृत-दुग्ध-तैल, मांसरस के नित्य सेवी एवं भोजी व्यक्ति बलवान् और चिरंजीवी होते हैं। कफ प्रकृति के व्यक्ति दीर्घायु, पित्त प्रकृति वाले मध्यायु और वात प्रकृति वाले अल्पायु होते हैं।

आयुर्वेद आयु की रक्षा के साधनों का उपदेश करने वाला शास्त्र है।
'प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य रक्षणम्, आतुरस्य विकारप्रशमनं च' ।

(च०सू० 30/26)

आयुर्वेद के दो उद्देश्य –

1. स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य रक्षा करना और
2. रोगी व्यक्ति के रोग को दूर करना है। प्रथम उद्देश्य की पूर्ति हेतु दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या, सद्वृत तथा त्रिविध उपस्तंभों (आहार, निद्रा, ब्रह्मचर्य) का पालन करके किया जाता है, जिनका उल्लेख स्वस्थवृत्त के माध्यम से आयुर्वेद में किया गया है।

आयुर्वेद शास्त्र का दूसरा उद्देश्य रोग से ग्रस्त होने पर रोगी के कष्ट का निवारण संशोधन तथा संशमन चिकित्सा द्वारा करना है।

स्वस्थ का लक्षण/स्वस्थ की परिभाषा –

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ।

प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ।।

(सु०सू० 15/41)

वात, पित्त एवं कफ जब साम्यवस्था में हों, अग्नि सम हो, धातुयें (रस, रक्त, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र) सम अवस्था में हों, मल, मूत्र आदि अबाध रूप से उत्सर्जित होते हों, शरीर में सभी क्रिया समान रूप से होती हो, इसके साथ-साथ आत्मा इन्द्रिय और मन प्रसन्न हों, उसे स्वस्थ कहते हैं। शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा के संयोग को आयु कहते हैं, उसे ही जीवन कहते हैं, उस आयु का ज्ञान, उसका विचार, उसकी प्राप्ति और उसके संरक्षण का शास्त्र 'आयुर्वेद' कहलाता है।

आयुर्वेद के आठ अंग(विभाग) – ब्रह्मा ने मनुष्य की सृष्टि के पहले ही आयुर्वेद का एक ग्रन्थ बनाया, जिसमें एक लाख श्लोक और एक हजार अध्याय थे।

प्रारम्भ में आयुर्वेद को आठ अंग में विभक्त किया

- 1—शल्य
- 2.शालाक्य
- 3.कायचिकित्सा
- 4.भूतविद्या
- 5.कौमारभृत्य
- 6.अगदतन्त्र
- 7.रसायनतन्त्र

8.वाजीकरण तन्त्र

1. शल्यतन्त्र – अनेक प्रकार के छाल, लकड़ी, पत्थर, धूलिकण, धातु, मिट्टी, हड्डी, केश, नख, पूय आदि आगन्तुक तथा आगन्तुक शल्यों के निकालने के लिये यंत्र-शस्त्र, क्षारकर्म, अग्निकर्म के प्रयोग के लिए विविध प्रकार के व्रणों का विनिश्चय करने के लिये यह शल्य नामक आयुर्वेदांग प्रवृत्त होता है। इसे ही शल्यतन्त्र कहते हैं। शल्यतन्त्र को पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान में सर्जरी कहते हैं।

शल्यतन्त्र के ग्रन्थ – संहिता ग्रन्थों में 'सुश्रुतसंहिता' सर्वप्रधान ग्रन्थ है। इस संहिता में व्रणागार व्यवस्था व्रणों के प्रकार उनकी चिकित्सा के साठ उपक्रम, आठ प्रकार के शस्त्रकर्म, यंत्रशस्त्रों के प्रकार, जलौका विधि, क्षार प्रयोग, अग्निकर्म एवं सिरावेध आदि का विशद् वर्णन किया गया है। कान, नाक और आँठ के कटने पर उनके सन्धान करने की विधि बतलायी गयी है। अर्श, अश्मरी और भगन्दर आदि में शस्त्र प्रणिधान एवं क्षार कर्म करने का विधान है।

सुश्रुत की विधियों के आधार पर ही आधुनिक सर्जरी का विकास हुआ है। शल्य विज्ञान में सुश्रुतसंहिता का प्राचीन ग्रन्थों में अद्वितीय स्थान है।

2. शालाक्य तन्त्र – कर्ण, नेत्र, मुख, नासिका आदि जत्रु के उपर के अंगों में उत्पन्न हुए रोगों की चिकित्सा के लिए तथा शालाक्य यन्त्र के प्रयोग के लिए जो आयुर्वेदांग है, उसे 'शालाक्यतन्त्र' कहते हैं। शालाक्य में समाविष्ट किये गये अंगों में से आधुनिक चिकित्सा में कर्ण, नासिका और कण्ठ का एक विभाग माना गया है तथा दँत रोगों का भी स्वतन्त्र विभाग किया गया है।

शालाक्य तंत्र का प्रमुख ग्रन्थ सुश्रुतसंहिता है। जिसके उत्तर तन्त्र के अध्याय 1 से 19 तक नेत्ररोग का, 20वें तथा 21वें अध्याय में कर्णरोग, 22 से 24वें अध्याय तक नासिका रोग और 25 से 26वें अध्याय में शिरो रोग का वर्णन है। सुश्रुत के समय में नेत्र शारीर का अध्ययन तथा नेत्र के विभिन्न अवयवों में होने वाले रोगों का विशेष अध्ययन प्रचलित था।

व्यवहारिक प्रयोग के लिये सेक, विडालक, लेप, नेत्रपूरण, अन्जन, वर्ति आदि का प्रयोग किया जाता था। कान, नाक, कण्ठ, मुख आदि के रोगों के निदान और उनकी चिकित्सा का भी स्वतन्त्ररूप से अध्ययन किया जाता था। शस्त्रसाध्य रोगों में शस्त्रकर्म भी किया जाता था।

कायचिकित्सा

आयुर्वेद के सभी अंगों में कायचिकित्सा का प्रमुख स्थान है। अतिप्राचीन काल से वर्तमान काल तक आयुर्वेद के सम्मान और प्रतिष्ठा का कारण आयुर्वेदीय कायचिकित्सा है।

शरीर के सर्वांग में होने वाले ज्वर, रक्तपित्त, शोथ, उन्माद, कुष्ठ एवं अतिसार आदि दोष वैषम्य से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा का विधान जिसमें किया जाता है, आयुर्वेद के उस अंग को कायचिकित्सा कहते हैं।

‘काय’ का अर्थ है सम्पूर्ण शरीर, अतः सम्पूर्ण शरीरगत रोगों की चिकित्सा को ‘कायचिकित्सा’ कहते हैं।

चिकित्सक, औषध, परिचारक और रोगी ये चारों अपने-अपने उत्तम गुणों से युक्त होकर धातु वैषम्य होने पर उस धातु वैषम्य को दूर करने एवं धातु साम्य की स्थिति लाने में प्रवृत्त होते हैं, उस प्रवृत्ति को ‘चिकित्सा’ कहते हैं।

चिकित्सा के प्रकार – कायचिकित्सा के प्रमुख ग्रन्थ चरक संहिता में चिकित्सा के दो प्रकार बतलाये गये हैं— स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य को अधिक प्रशस्त (ऊर्जस्कर) बनाने वाला और रूग्ण व्यक्ति के रोग को दूर करने वाला ।

स्वस्थ ऊर्जस्कर के भी दो प्रकार होते हैं—

1. रसायन
2. वाजीकरण

रसायन – शरीर में रस–रक्तादि धातुओं की प्रशस्ततापूर्वक प्राप्ति के उपाय को रसायन कहते हैं ।

वाजीकरण – यह वह प्रक्रिया है जिसके प्रयोग से अल्पवीर्य, दुष्टवीर्य, क्षीणवीर्य एवं सन्तानहीन पुरुषों को वीर्यसम्पन्न, पौरुषशक्ति सम्पन्न, प्रहर्षयुक्त तथा सन्तानोत्पत्ति में समर्थ बनाया जाता है ।

चिकित्सा का दूसरा प्रकार रूग्ण व्यक्ति के रोग को दूर करना है । इसके तीन भेद हैं –

1. दैवव्यपाश्रय
2. युक्तिव्यपाश्रय
3. सत्त्वावजय

1. दैवव्यपाश्रय – चिकित्सा में रोग को दूर करने के लिये मणियों का बन्धन बलि, उपहार, मन्त्रजप और हवन का विधान है ।

2. सत्त्वावजय – इसमें मन को हितकर विषयों में प्रवृत्त होने से रोका जाता है और ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, आश्वासन आदि के द्वारा मनोबल को बढ़ाया जाता है एवं सत्त्वगुण को बढ़ाने का उपाय किया जाता है ।

3. युक्तिव्यपाश्रय में रोगी की प्रकृति, दोष, दूष्य, बल, काल, आदि का विचार कर औषध प्रयोग तथा आहार–विहार की समुचित योजना से रोग का उन्मूलन किया जाता है ।

चिकित्सा के सामान्य सिद्धान्त –

1. पहला सिद्धांत है कि जिन कारणों से रोग उत्पन्न हुआ हो उसका परित्याग करना चाहिये।
2. उष्णता से होने वाले रोगों में शीतोपचार और शीत से होने वाले रोगों में उष्ण उपचार करना चाहिये।
3. क्षीण हुए दोषों को बढ़ाना चाहिये, बढ़े हुए दोषों को घटाना चाहिए और सम दोषों को सम बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिए।
4. शारीरिक रोगों को दूर करने के लिए दैवव्यपाश्रय और युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा करनी चाहिए।
5. मानसिक रोगों में ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति एवं चित्त की एकाग्रता आदि की प्रक्रिया अपना कर चिकित्सा करनी चाहिए।
6. अच्छी तरह से प्रयुक्त किये गये संशोधन, संशमन, आहार और विहार रोगों का नियमन करते हैं।
7. रोग के अनुसार जहाँ-जहाँ उपयुक्त हो वहाँ विधिपूर्वक संशोधन, संशमन और रोग के कारण का परित्याग करना चाहिये।

संशोधन वह चिकित्सा उपक्रम है जिसके द्वारा शरीर में बढ़े हुए दोषों को वमन-विरेचन आदि कर्मों के द्वारा शरीर से बाहर निकाला जाता है, संशोधन चिकित्सा में पांच मुख्य कर्म होते हैं,

1. वमन
2. विरेचन
3. नस्य
4. निरूह और
5. अनुवासन अथवा मतान्तर से रक्त मोक्षण।

संशमन – उसे कहते हैं, जो मल को बाहर नहीं निकालता एवं विषम धातुओं और दोषों को समान स्थिति में व्यवस्थित रखता है। संशमन सात प्रकार के होते हैं –

1. दीपन
2. पाचन
3. क्षुधानिग्रहण
4. तृषानिग्रह
5. परिश्रम
6. धूप सेवन
7. वायु सेवन।

2. बृंहण कर्म भी शमन का कार्य करता है। बृंहण क्रिया से शरीर में बल, पुष्टि और स्थिरता आती है।

भूतविद्या

आयुर्वेद का यह अंग सर्वाधिक उपेक्षित अंग है। इस विषय का स्वतन्त्र कोई प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

परिभाषा – देवता, पितृ, पिशाच तथा ग्रह आदि के आक्रमण से पीड़ित व्यक्तियों के कष्ट को दूर करने के लिए उन देव आदि के लिये बलि, उपहार, पूजा आदि के विधान द्वारा रोग शान्ति का उपचार जिस अंग द्वारा किया जाता है उसे भूतविद्या कहते हैं।

कौमारभृत्य

इस आयुर्वेदांग में कुमार (बालक) के भरण-पोषण की व्यवस्था, धात्री परीक्षा, दुष्ट-दुग्ध विशोधन, ग्रहजन्य रोगों का प्रतीकार तथा बालकों के रोगों की चिकित्सा का विधान किया जाता है। वृद्ध काश्यप द्वारा रचित काश्यप संहिता में कौमार भृत्य एवं उनकी व्याधियों का विशेष वर्णन उपलब्ध है।

आयु के अनुसार बालक तीन प्रकार के होते हैं –

1. क्षीरप (दूध पीने वाला)
2. क्षीरान्नाद् (दूध और अन्न खाने वाले)
3. अन्नाद् (केवल अन्न पर निर्भर)

बालक के जन्म होने के साथ ही उसका उपचार शुरू हो जाता है। उसके कुछ संस्कार किये जाते हैं। उसके लिए पेय लेह्य की व्यवस्था की जाती है।

इसमें बालकों को विभिन्न आयु में भिन्न-भिन्न ग्रहों के प्रकोप से होने वाले रोगों का वर्णन है और उनके उपचार का विधान किया गया है।

अगदतन्त्र

अगद तंत्र वह तंत्र है जिसके अंतर्गत अनेकों प्रकार के जान्तव एवं गर (रासायनिक) विषों की चिकित्सा का वर्णन है।

यह सुश्रुताचार्य की दी हुयी संज्ञा है। चरक ने इसे "विषगरवैरोधिक प्रशमन" कहा है। वाग्भट् आचार्य ने इसका नाम "दंष्ट्रा चिकित्सा" कहा है।

सर्प, कीट, लूता आदि से डँसा हुआ, अनेक प्रकार के स्वाभाविक, कृत्रिम एवं संयोग विष से ग्रस्त मनुष्यों के निदान तथा चिकित्सा के लिये जो अंग होता है उसे अगदतन्त्र कहते हैं।

रसायन

जो चिकित्सा उपक्रम जरा एवं व्याधियों को शरीर से दूर रखता है उसे रसायन कहते हैं।

रसायन में औषध, आहार और विहार तीनों ही प्रकार हैं। जिन औषध द्रव्यों के सेवन से शरीर में उत्तम रस रक्तादि धातुओं की उपलब्धि होती है, वे रसायन कहे जाते

हैं। दीर्घ काल तक तारुण्यावस्था स्थापन करने के लिए आयु, बल तथा बुद्धि की वृद्धि के लिये एवं शरीर में रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाने के लिए जो आयुर्वेदांग हैं, उसे रसायनतन्त्र कहते हैं।

वृद्धावस्था को दूर रखते हुए कर यौवनावस्था को लम्बे समय तक बनाये रखना और रोग को दूर करना, ये दो कार्य रसायन चिकित्सा के हैं।

रसायन प्रकार –

1. औषधीय रसायन – प्राकृतिक रूप से उपलब्ध अनेक द्रव्य रसायन गुणों युक्त होते हैं यथा हरीतकी (हरड़), आमल की (आंवला) शतवरी, रसोन, गुग्गुलु एवं शिलाजतु (शिलाजीत) इसके अतिरिक्त विशेष विधियों से विशेष रसायन योग तैयार किये जाते हैं जैसे – ब्रह्म रसायन, च्यवनप्राश रसायन आदि
2. आचार रसायन— सद्वृत्त पालन करना, यम नियम आदि का पालन करना, गुरुओं, वृद्ध पुरुषों का आदर एवं सम्मान करना सदैव सत्य बोलना आदि ये आचार रसायन हैं इनसे मनुष्य के मानसिक बल की वृद्धि होती है।

वाजीकरण

वह चिकित्सा उपक्रम जिसके द्वारा पौरुष शक्ति की वृद्धि होती है उसे वाजीकरण कहते हैं।

क्षीणपौरुष, अल्पवीर्य और सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ पुरुषों को वीर्यवान्, पौरुषसम्पन्न और सन्तान को उत्पन्न करने में समर्थ बनाने वाला अंग वाजीकरण है।

आयुर्वेद के मूल सिद्धांत

दोष – तीन शारीरिक एवं दो मानसिक दोष होते हैं।

त्रिदोष –

‘वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः’ (अ०ह०सू० 1/6)

अर्थात् तीन दोष होते हैं – वात, पित्त एवं कफ।

ये दोष (वात, पित्त, कफ) यदि विकृत हो जाय तो शरीर को रोगी बनाते हैं और यदि अविकृत रहे तो शरीर को स्वस्थ बनाये रखते हैं।

दोषों के स्थान—यद्यपि दोष पूरे शरीर में रहते हैं परन्तु मुख्य रूप से दोषों के निम्न स्थान हैं—

दोष	शरीर में स्थान
वायु—	नाभि से नीचे
पित्त—	हृदय एवं नाभि के बीच में
कफ—	हृदय के ऊपरी भाग में

दोषों का काल—

आयु, दिन—रात और भोजन इनके अन्त में वायु, मध्य में पित्त तथा शुरु में कफ होता है।

दोष	वय	दिन	रात्रि	आहार पाचन
वात	वृद्धावस्था	सांयकाल	अन्तिम प्रहर	अन्त
पित्त	युवास्था	मध्य	मध्य प्रहर	मध्य

कफ बाल्यावस्था प्रातःकाल प्रथम प्रहर प्रारम्भ

अग्नि— आयुर्वेद में अग्नि का अत्यधिक महत्व है इसलिये कायचिकित्सा का अभिप्राय अग्नि की चिकित्सा से ही है

दोषों की विषमता का अग्नि पर प्रभाव —वायु की अधिकता से अग्नि विषम, पित्त से तीक्ष्ण एवं कफ से मन्दाग्नि हो जाती है।

तीनों दोषों के सम हाने पर अग्नि भी सम रहती है।

प्रकृति— यह जन्मजात स्वभाव होता है तथा गर्भ के समय शुक्र एवं आर्तव के संयोग से तीनों दोषों के अनुसार ही निर्मित होती है। व्यक्ति की प्रकृति की जानकारी से व्यक्ति की चिकित्सा बहुत ही सरलता से की जा सकती है।

पंचमहाभूत— सभी द्रव्य पंचमहाभूत(पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि एवं आकाश) से निर्मित हैं।

दोषों के गुण—

वात— रूक्ष, लघु, शीत, खर, सूक्ष्म एवं चल

पित्त— स्निग्ध, तीक्ष्ण, उष्ण (गरम), लघु, विस्त्र, सर एवं द्रव

कफ—स्निग्ध, शीत(ठण्डा), गुरु(भारी), मन्द(कम चलने वाला), पिच्छिल(चिकना), मृत्स्न(चिपकने वाला) एवं स्थिर (न फैलने वाला)

सन्निपात— क्षीण हुए या कुपित हुए तीन दोषों का मिलन सन्निपात कहलाता है।

मानसिक दोष — मानसिक दोष रज एवं तम हैं।

धातु — 1. रस 2. रक्त 3. मांस 4. मेद
5. अस्थि 6. मज्जा 7. शुक्र

जब यह धातुयें शरीर का धारण करती हैं तब धातु कहलाती हैं एवं जब वात आदि दोषों से दूषित हो जाती हैं तो दूष्य कहलाती हैं ।

मल—मूत्र, पुरीष एवं स्वेद ये तीन शारीरिक मल हैं ।

रस— रस छः हैं—

- 1— मधुर
- 2— अम्ल
- 3— लवण
- 4— कटु
- 5— तिक्त
- 6— कषाय

रसों का दोषों पर प्रभाव—

मधुर,अम्ल,लवण— वायु का शमन करते हैं तथा कफ को बढ़ाते हैं ।

कटु तिक्त कषाय— कफ का शमन करते हैं तथा वायु को बढ़ाते हैं ।

कषाय तिक्त मधुर— पित्त का शमन करते हैं ।

अम्ल लवण कटु— पित्त को बढ़ाते हैं ।

वीर्य —गुणों की उत्कर्षता अर्थात् उत्कर्ष शक्ति को वीर्य कहते हैं ।

भेद — 1.शीत वीर्य 2.उष्ण वीर्य

द्रव्य भेद— तीन प्रकार के द्रव्य (औषध) होते हैं—

1. प्रथम शमन द्रव्य जो शरीर में कुपित दोषों का शमन करते हैं ।

2. द्वितीय वे द्रव्य जिनके द्वारा शरीर की धातुओं एवं दोषों का प्रदूषण होता है।
3. तृतीय प्रकार के वे द्रव्य जिनके द्वारा शरीर की धातुओं तथा दोष साम्यावस्था में बने रहते हैं अर्थात् शरीर स्वस्थ रहता है।

रोग के प्रकार—

1. निज रोग— जो शरीर के अन्दर वातादि दोषों की विषमता के कारण होते हैं।
2. आगंतुक रोग – अभिघातज आदि बाहरी कारणों से होते हैं(चोट लगना आदि)।

औषध – वे विभिन्न प्रकार के जागड.म (जन्तुओं से प्राप्त होने वाली), औब्दिद (वनस्पतियां) एवं पार्थिव द्रव्य जिनके द्वारा शरीर में उत्पन्न व्याधियाँ शमित होकर रोगी स्वस्थ होता है औषध कहलाते हैं।

औषध भेद—

1—शोधन औषध—जो औषध या प्रक्रिया दोषों को शरीर से बाहर निकालती है शोधन औषध कहलाती है इसे पंचकर्म चिकित्सा भी कहते हैं।

2—शमन औषध –जो दोषों के बढ़े हुए अंशों को शमित कर साम्यावस्था लाती है वह शमन औषध कहलाती है।

वात के कार्य

प्राकृत अवस्था में उत्साह, श्वास निर्गम, श्वास प्रवेश, चेष्टा, मल मूत्रादि वेगों की प्रवृत्ति आदि

पित्त के कार्य—

पाचन, उष्णिमा, दर्शन (दृष्टि शक्ति), भूख—प्यास, प्रीति, कान्ति, मेधा, बुद्धि, देह मर्दव आदि

कफ के कार्य—

अंगों की दृढ़ता, स्निग्धता, सन्धि की संश्लिष्टता, सहिष्णुता आदि

चिकित्सा—

जिन शोधन शमन आदि क्रियाओं के द्वारा शरीर में विषमता को प्राप्त दोष एवं धातुयें सम अवस्था में आ जाती है उन सभी उपक्रमों को चिकित्सा कहते हैं।

याभिक्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातःसमा ।

साचिकित्सा विकाराणा कर्मतद्भिषजोस्मृतम् ।।

चरक सू० 16 / 34

वायु का स्थान— मुख्य रूप से नाभि के नीचे पक्वाशय, कटि ,सक्थि,स्रोत, वायु का स्थान है।

पित्त के स्थान—नाभि, आमाशय, स्वेद, लसिका ,रक्त, रस, आँख और त्वचा तथा मुख्य स्थान नाभि है।

कफ के स्थान— वक्ष, कण्ठ, सिर, आमाशय, रस, जिह्वा— ये कफ के स्थान हैं।

इसका मुख्य स्थान छाती एवं इसके ऊपर का स्थान है।

वायु के पांच भेद—

प्राण वायु

उदान वायु

व्यान वायु

समान वायु

अपान वायु

पित्त के पांच भेद

1. पाचक पित्त
2. रंजक पित्त
3. साधक पित्त
4. भ्राजक पित्त
5. आलोचक पित्त

कफ के पांच भेद —

1. अवलम्बक कफ
2. क्लेदक कफ
3. तर्पक कफ
4. बोधक कफ
5. श्लेषक कफ

दोषों का संचय प्रकोप आदि —

संचय – जब दोषों की अपने ही स्थान पर वृद्धि होती है। इसमें विपरीत गुण की इच्छा रहती है।

प्रकोप – दोषों का उन्मार्ग गमन अथवा अपने स्थान से अन्य सीमा गमन के लिए उन्मुक्त होना कोप है,

प्रशर – दोषों का प्रकुपित होकर स्वस्थान को त्यागकर शरीर में अन्यत्र जाना प्रशर है।

शमन—दोष का पुनः अपने स्थान में अपने प्रमाण में रहना एवं रोग उत्पन्न न होना शमन है।

‘संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थान संश्रयम्।

व्यक्ति भेदम् च यो वेती दोषाणं स भवेद् भिषक् ’ ॥ (सु.सू.अ. 21/36)

वातादि दोषों का चयादि काल—

दोष	संचय	प्रकोप	शमन
वायु	ग्रीष्म	वर्षा	शरद्
पित्त	वर्षा	शरद्	हेमन्त
कफ	शिशिर	बसन्त	ग्रीष्म

वायु का उपचार—स्नेह, स्वेद, मृदु संशोधन, मधुर, अम्ल, लवण और उष्ण भोजन, अभ्यंग, मर्दन, वेष्टन(लपेटना), सेक, पिठ्ठी तथा गुड़ से बने मद्य, स्निग्ध एवं उष्ण बस्तियाँ, सुखाभ्यास, दीपन-पाचन से सिद्ध तैल, अनेक योनि वाले स्नेह विशेषकर मेद, माँस रस, तैल एवं अनुवासन (स्नेह बस्ति) वायु की चिकित्सा है।

पित्त का उपचार—घृत पान, मधुर,शीतल द्रव्यों से विरेचन

—मधुर, तिक्त, कषाय रस वाले भोजन और औषध

—सुगंध, शीतल और प्रिय गंधों का सेवन

—गले में मुक्ताओं की माला का धारण

— कर्पूर, चन्दन, खस का लेप

—शीतल जल की धारायें

—मन को प्रसन्न करने वाले पदार्थ , दूध, घी और विरेचन ये सभी पित्त शमन करते हैं ।

कफ का उपचार—विधि पूर्वक दिये गये तीक्ष्ण वमन, विरेचन, रूक्ष, अल्पतीक्ष्ण, उष्ण, कटु ,तिक्त एवं कषाय अन्न का सेवन।

— चिरकाल स्थित मद्य

—सम्भोग में प्रीति

—रात्रि जागरण, अनेक प्रकार के व्यायाम,चिन्ता, रूक्ष उपचार और मर्दन करना चाहिए।

—वमन,यूष, मधु, मेद नाशक औषध, धूम्रपान आदि कफ नाशक हैं।

आम – अग्नि की दुर्बला के पश्चात् भी यदि भोजन किया जाता है तो दुर्बलग्नि भोजन का ठीक से पाचन नहीं कर पाती है अतः उपक्व या अर्धपिक्व आहार ही आम कहलाता है जो शरीर में अनेकों बिमारियों को उत्पन्न करता है।

वायु आदि का शोधन काल—

ग्रीष्म में संचित वायु को – श्रावण में (वर्षा ऋतु)में शोधन करना चाहिए
वर्षा में संचित पित्त को – कार्तिक में (शरद ऋतु)में शोधन करना चाहिए
हेमन्त में संचित कफ को – चैत्र (बसन्त ऋतु) में शोधन करना चाहिए

औषध सेवन काल— मुख से औषधि ग्रहण करने के विभिन्न कालों को औषध सेवनकाल कहते हैं, कुल दस (10) औषध सेवन काल होते हैं।

- 1.अभक्त – प्रातःकाल खाली पेट औषध लेना
- 2.प्राग्भक्त – औषध के पीछे अन्न खाना।
- 3.मध्यभक्त – आधा भोजन के बाद औषध लेना
- 4.सग्रास – प्रत्येक ग्रास में मिलाकर औषध लेना
- 5.अधोभक्त – भोजन के तत्काल बाद औषध
6. ग्रासान्तर – प्रत्येक दो ग्रासों के मध्य में औषध ली जाती है
- 7.मुहुर्महुः औषध – अन्न के साथ या खाली पेट जो औषध बार-बार ली जाती है
- 8.सभक्त – आहार में मिलाई गयी औषध
9. सामुद्ग – भोजन के प्रारम्भ में तथा अंत में औषध लेना।
10. अन्तराभक्त – प्रातः काल भोजन तथा सांयकाल भोजन के मध्य में औषध सेवन कराना।

स्वस्थ्य वृत्त

स्वास्थ्य के संरक्षण हेतु नित्यप्रति जो कार्य किये जाये उसे स्वस्थवृत्त कहते हैं। उदाहरणार्थ प्रतिदिन प्रातः उठना, शौच कर्म – स्नानादि से शरीर को शुद्ध करना, स्वच्छ वस्त्र धारण करना, स्वच्छ भोजन एवं जल पीना, स्वच्छ पात्रों में स्वच्छ हाथों से भोजन करना, नित्य व्यायाम करना, योगाभ्यास, स्वास्थ्यकर भोजन करना, ऋतुओं के अनुसार भोजन करना, उचित मात्रा में नींद लेना आदि।

चक्रमण

चक्रमण लघु व्यायाम है। कृश तथा दुर्बल व्यक्तियों में, जहाँ पूर्ण व्यायाम निषिद्ध है, चक्रमण उपयोगी है।

क्षौरकर्म

नित्य व्यायाम के समान ही नियमित रूप से क्षौरकर्म शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। एक पक्ष में तीन बार केश-श्मश्रु नख रोमादि कर्तन करवाना चाहिए।

शिराभ्यंग के साथ-साथ केश्या (कंघी) का प्रयोग करना चाहिए।

प्रतिदिन कर्णतर्पण अर्थात् कर्णाभ्यंग करने से वातज कर्णरोग तथा मन्यास्तम्भ, हनुस्तम्भ प्रभृति रोगी नहीं होते। साथ उच्चश्रुति तथा बाधिर्य नहीं होता पादाभ्यंग का भी विशेष निर्देश दिया गया है।

निम्नलिखित व्यक्ति अभ्यंगानार्ह कहे गये हैं— 1 नवज्वरपीडित 2

अजीर्ण पीडित 3 वमन विरेचन निरूह किये हुए 4 संतर्पण जन्य रोग इन अवस्थाओं में अभ्यंग करने से तत्तद् रोग कष्टसाध्य हो जाते हैं, अग्निमांघ हो जाता है तथा संतर्पण जन्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

शरीर-परिमार्जन उद्धर्तन, उत्सादन, उद्घर्षण तथा फेनक एवं अन्य शरीर परिमार्जनात्मक विधियों का नियमित प्रयोग स्वास्थ्य के लिए हितकर है।

सन्ध्योपासन एवं योगाभ्यास

प्रतिदिन प्राणायाम, सूर्योपासन एवं गायत्रीजप तथा इष्टदेव अर्चना करनी चाहिए। योगाभ्यास भी दिनचर्या का अंग होना चाहिए।

त्रय उपस्तम्भ

आहार, निद्रा, एवं ब्रह्मचर्य— ये तीन उपस्तम्भ कहे गये हैं। इनका युक्तिपूर्वक सेवन दिनचर्या का महत्वपूर्ण अंग है।

रात्रिकालीन भोजन — रात्रि का भोजन रात्रि के प्रथम प्रहर में कर लेना चाहिए। रात्रि का भोजन मात्रा में कम तथा सुपाच्य होना चाहिए।

शयन— भोजन के उपरान्त प्रसन्न मन से एवं स्वच्छतापूर्वक पवित्र तथा विस्तृत स्थान में शयन करना चाहिए। ग्रीष्म के अतिरिक्त सभी ऋतुओं में दिवास्वप्न निषिद्ध है।

ऋतुचर्या

— आयुर्वेद में षड्ऋतुएँ दोषों के चय, प्रकोप प्रशम के निमित्त कही गयी है। ऋतुओं के प्रभाव से उनके गुणानुसार दोषों का संचय, प्रकोप एवं प्रशम होता है। तदनुसार ही मनुष्य को स्वास्थ्य परिक्षार्थ यथायोग्य औषधि अन्न विहारादिपूर्वक ऋतुचर्या पालन करना चाहिए।

षड्ऋतुओं में संशोधन क्रम

षड्ऋतुओं में स्वभावतः होने वाले त्रिदोषों के संचय, प्रकोप व प्रशमन का विचार करके स्वस्थवृत्त संशोधन कर्म निम्नलिखित क्रम से कराना चाहिए—

षड् ऋतु	संचय	प्रकोप	प्रशम	निर्दिष्ट कर्म
शिशिर	कफ	—	वात	दीपन, पाचन
वसन्त		कफ	वात	वमन
ग्रीष्म	वात	—	कफ	वातहर आहार—विहार
वर्षा	पित्त कफ	वात	—	वस्ति
शरद्	—	पित्त—कफ	वात	विरेचन
हेमन्त	कफ		पित्त	

ऋतुसन्धि:— व्यतीत हो रही ऋतु के अन्तिम तथा प्रारम्भ हो रही ऋतु के प्रथम सप्ताह को (इन दो सप्ताहों को) ऋतुसन्धि कहते हैं। ऋतुसन्धिकाल में आने वाली ऋतु में होने वाले दोष संचय—प्रकोप हेतु निर्दिष्ट संशोधन कर्म करना चाहिए, उदाहरणार्थ सितम्बर माह वर्षा एवं शरद ऋतु सन्धि काल है यदि इस माह के अंत में विरेचन कर्म किया जाय तो शरद ऋतु में पित्त का प्रकोप या तो नहीं होगा अथवा अल्प प्रमाण में होगा।

उपवास

समय—समय पर व्रतोपवास करते रहने से अग्नि प्रदीप्त रहती है और शरीर स्वस्थ बना रहता है।

आयुर्वेद में लंघन को षट् उपक्रमों में गिना गया है और उपवास को एक प्रकार का लंघन माना गया है।

आहारव्यवस्था

आहार ग्रहण करने वाले की प्रकृति, अथवा रोगावस्था के आधार पर एवं शरीर की दोषिक अवस्था के आधार पर आहार द्रव्यों का चयन कर उचित काल में उचित मात्रा में भोजन ग्रहण किया जाना चाहिए।

इकाई – 2

आयुर्वेद का आहारीय चिकित्सा पद्धति में योगदान आयुर्वेदानुसार भोजन व्यवस्था

एक व्यक्ति को प्रतिदिन स्वास्थ्यवर्धक भोजन चाहिए। हमें यह जानना आवश्यक है कि हमें प्रतिदिन कैसा भोजन खाना चाहिए जिससे कि हम निरोग रहें तथा रोग ग्रस्त होने पर भी हमारा भोजन उस रोग के अनुसार नियमबद्ध हो। भोजन व्यवस्था जानने के लिए हमें व्यक्ति की प्रकृति का ज्ञान होना आवश्यक है। वात, पित, कफ दोषों के गुण अलग-अलग होने के कारण व्यक्ति की प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति की सोचने की प्रवृत्ति तथा किसी क्रिया पर प्रतिक्रिया अलग-अलग होती है, इसलिए उचित भोजन लेने के लिए हमें व्यक्ति विशेष की प्रकृति का ज्ञान होना आवश्यक है। हमारे त्रिदोष वात, पित, कफ पंचमहाभूतों से बने हैं इसी प्रकार हमारा भोजन भी पंचमहाभूतात्मक है इसलिए व्यक्ति की प्रकृति के अनुसार भोजन व्यवस्था अति आवश्यक है तभी शरीर का उचित विकास होगा शरीर में बल होगा तथा रोगग्रस्त होने पर शीघ्र रोग से मुक्त होगा।

आयुर्वेदानुसार भोजन

आयुर्वेदानुसार कुछ भोजन विशेषकर रोगों से बचाव कराने वाले तथा रोग होने पर भी उनकी चिकित्सा की सरलता के लिए उपयोगी माने गए हैं। ऐसा भोजन उत्तम माना जाता है जो संतुलित हो, सुपाच्य हो, सम्पूर्ण देह को पोषण देने वाला हो तथा हमारे शरीर तथा मन को स्वस्थ रखने वाला हो। रसों के अनुसार भोजन को आयुर्वेद में 6 वर्गों में बाँटा है यथा मधुरता प्रधान, अम्लता प्रधान,

लवणता प्रधान, कटु रस प्रधान, तिक्त रस प्रधान एवं कषाय रस प्रधान। आदर्श रूप में छहों रस हमारे प्रत्येक मुख्य भोजन में होने चाहिए। आयुर्वेद भोजन को उसके भौतिक लक्षणों के अनुसार भी वर्गीकृत करता है। यथा—रूक्ष एवं स्निग्ध, गुरु एवं लघु ऊष्ण एवं शीत। आयुर्वेदिक चिकित्सक भोजन व्यवस्था पत्रक इस प्रकार से बनता है कि जिसे दोष को सम करना है उसी अनुसार भोजन दिया जाय।

समस्त मौसमी फल एवं सब्जियाँ, या ऐसे मसाले जो कडुवे एवं कषाय रस के हों, दूध, लस्स, पका भोजन, चटनियों, साबुन दालें चोकर युक्त आटे की रोटी, मूंग दाल ये कुछ ऐसे भोज्य पदार्थों के उदाहरण हैं जिन्हें रोग दूर करने के लिए पथ्य के रूप में तथा शारीरिक वृद्धि के लिए दिया जा सकता है।

भोजन को इस प्रकार भी वर्गीकृत किया जाता है कि वह हृदय मन मस्तिष्क एवं आत्मा पर क्या प्रभाव डालता है। जैसे सात्विक व तामसिक भोजन। सात्विक भोजन वह है जो शारीरिक रूप से स्वस्थ रखने के साथ-साथ मानसिक व आध्यात्मिक रूप से भी स्वस्थ बनाए जिसमें पवित्रता हो जैसे – रोटी, भात, मूंगदाल, दूध, मक्खन, घी, बादाम, लौकी, तुरई, परवल, केला, खरबूजा आदि प्रायः सभी ऋतु फल ये सब सात्विक भोजन है। तामसिक भोजन में वे खाद्य पदार्थ आते हैं जो मेदस्विता बढ़ाते हैं, मन तथा आत्मा को कलुषित करते हैं, उग्रता बढ़ाते हैं जैसे— तीक्ष्ण मसालेदार आहार, मांसाहार, मद्य आदि।

षड्रसों का सिद्धान्त –

आयुर्वेद के अनुसार 6 रस हैं संतुलित आहार में छहों रसों का मिश्रण आवश्यक है। ये छः रस दोषों के ऊपर अपने विशेष प्रभाव रखते हैं। हमारा शरीर तीनों दोषों में से किस दोष की प्रधानता वाला होगा यह इस बात पर निर्भर होता है कि हम अपने भोजन में किस रस की प्रधानता हैं। पचने के पश्चात भी रस नष्ट

नहीं होता है। अपितु हमारे भौतिक एवं मानसिक दोषों के सही अनुपात को प्रभावित करता है। ये षड्रस पंचमहाभूतों में दो-दो महाभूत को मिलाकर बनते हैं।

मधुर रस –

मधुर रस शर्करा कार्बोहाइड्रेट्स (Carbohydrates) में पाया जाता है। यह कफ दोष को बढ़ाता है तथा वात एवं पित्त का शमन करता है, यह शीत है वीर्य शरीर के ऊतकों के निर्माण तथा ऊर्जा उत्पादन में काम आता है। अधिक मात्रा होने पर यह विष या विजातीय पदार्थ बनाता है तथा मेदस्विता करता है। यह पृथ्वी तथा जल महाभूत से बना है तथा मन की प्रसन्नता एवं प्रीति करता है।

अम्ल रस –

अम्ल रस संधान किए हुए भोजनों में तथा खट्टे फलों में होता है। यह कफ एवं पित्त की वृद्धि करता है तथा वात को घटाता है यह ऊष्ण प्रकृति (वीर्य) का रस है जो कि भूख बढ़ाता है, एवं पाचन में सहायता करता है। इसकी अधिक मात्रा होने पर यह अम्लीयता में वृद्धि करता है। यह पृथ्वी तथा अग्नि महाभूत से बना है।

लवण रस—

लवण रस नमक में तथा समुद्री घासों में होता है। यह कफ एवं पित्त बढ़ाता है तथा वात का शमन करता है। यह ऊष्ण वीर्य है जो कि उचित चयापचय कराता है शरीर को शुद्ध करता है, भूख तथा पाचन बढ़ाता है। यह जल तथा अग्नि महाभूत से बना है।

कटु रस –

यह कटु रस गरम मसालों मिर्च आदि में होता है। कालीमिर्च, अदरख, लाल मिर्च, में कटु रस होता है यह पित्त एवं वात को बढ़ाता है तथा कफ को घटाता है। यह ऊष्ण प्रकृति, का रस है जो कि चयापचय को ठीक करता है। भूख तथा पाचन को सुधारता है। अधिक मात्रा में लेने पर शरीर में दाह करता है, तथा उत्तेजना एवं क्रोध बढ़ाता है वायु तथा अग्नि महाभूत से बना है।

तिक्त (कडुवा)–

कुछ वनस्पतियों में कडुवा (तिक्त) रस होता है। जैसे– करेला, नीम, घीक्वार (एलोय वेरा), आदि यह पित्त और कफ को कम करके वात को बढ़ाता है, अवयवों को शक्ति देता है, भूख बढ़ाता है तथा शरीर के विजातीय एवं विषमय प्रभाव को दूर करता है। अधिक मात्रा में यह शक्ति को कम करता है।

यह रस कफ एवं पित्त का शमन करता है तथा वात की वृद्धि करता है। कषाय रस शीत होता है तथा शरीर के स्रावों को कम करता है। स्वेद के स्राव को भी कम करता है। अधिक मात्रा में यह रूक्षता तथा प्यास लगाता है। वायु तथा पृथ्वी महाभूत से यह बना है।

हमें अधिक मात्रा में तिक्त, कटु तथा कषाय रस वाला भोजन नहीं करना चाहिए तथा अधिक मात्रा में मधुर एवं लवण रस का भोजन भी नहीं करना चाहिए इससे असंतुलन पैदा होता है। अच्छा यही है कि अपनी प्रकृति के अनुरूप छहों रसों के युक्त भोजन लें।

रसानुसार कुछ भोज्य समूहों के उदाहरण –

मधुर रस – दूध, मक्खन, क्रीम, चावल, घी, मधु, शर्करा, सभी पके फल।

अम्लरस— नींबू, संतरा तथा नींबू कुल के अन्य फल आंवला, अमरूद, आम, अनार एवं अम्ल रस युक्त कच्चे फल, दही, छाछ, कांजी।

लवण – नमक, नमकीन, अचार, धनियाँ, पुदीना आदि की नमक युक्त चटनियों।

कटु— मिर्च, कालीमिर्च, अदरख, सोंठ, लौंग, राई, मूली।

तिक्त – मेथी, करेला, ग्वारपाठा (Aloe vera)

कषाय— कच्चा अमरूद, अनार का छिलका, हल्दी, कच्चे गूलर फल।

पथ्य एवं अपथ्य – पथ्य का अर्थ ऐसे आहार से है जो शरीर एवं मन पर विपरीत प्रभाव डालते हैं। इसके विपरीत जो शरीर एवं मन पर विपरीत प्रभाव डालते हैं उनको अपथ्य कहते हैं। यदि एक व्यक्ति किसी रोग के लिए औषधि के साथ-साथ पथ्य का भी पालन करता है तो यह पथ्य उसके रोग को दूर करने में सहयोग करता है, जबकि अपथ्य सेवन से औषधि के कार्य करने की शक्ति कम एवं रोग का बल अधिक हो जाता है। कुछ रोग तो मात्र अपथ्य सेवन करने से ही उत्पन्न होते हैं। जैसे—अपथ्य निमित्तज प्रमेह, मेदस्विता, उच्च रक्त चाप, अम्लपित्त, अजीर्ण आदि।

भोज्य	पथ्य	अपथ्य
-------	------	-------

अन्न	शालि चावल एवं पुराना धान्य	बसी अन्न, नया अन्न
दाल	मूंग	उड़द
नमक	सैंधव लवण	ऊसर लवण
शाक	जीवन्ती	सरसों के पत्ते
मांस	हिरण का मांस	गौमांस
मछली	रोहितक	चिलचिम
घी	गौघृत	भेड़ का घी
दूध	गौदुग्ध	भेड़ का दूध
वनस्पति तेल	तिल तेल	कुसुम का तेल
मेद चर्बी	बकरी	हाथी
कंद	अदरक	आलू
फल	अंगूर	निकुच
गन्ने का पदार्थ	शर्करा, चीनी	फाणित
जल	आसुत जल	वर्षा ऋतु में नदी का जल

उचित विधि से पाक किया गया भोजन तथा आयुर्वेदिक विधि से बताया गया भोजन दोनों ही शरीर का विकास करने वाला होता है। पोषण की दृष्टि से, शरीर पर इसके प्रभाव की दृष्टि से, मन तथा भावनाओं पर इसका प्रभाव, भोजन का आत्मा पर प्रभाव की दृष्टि से, आयुर्वेदोक्त भोजन अपना विशेष महत्व रखता है। अन्य कारक जैसे भोजन का व्यक्तिगत चयन, मौसम, भौगोलिक, बाह्य वातावरण, भोजन के विभिन्न द्रव्यों का आपस में विपरित प्रभाव आदि को गहराई से देखा परखा जाता है। इसके अनुसार भोजन में पोषक तत्वों की मात्रा, संतुलित आहार, भोजन से मिलने वाली उर्जा की मात्रा, प्रोटीन, फ़ैट, कार्बोहाइड्रेट्स, विटामिन, खनिज तत्व आदि को ध्यान में रख कर ऐसी भोजन व्यवस्था व्यक्ति विशेष के अनुरूप तैयार की जाती है कि खाये गये अन्न का ठीक से पाचन हो सके एवं शरीर की समस्त धातुओं, इन्द्रियों का पोषण हो एवं मन में प्रसन्नता उत्पन्न हो।

प्राचीन काल में जिस प्रकार लोग स्वास्थ्यवर्धक आहार—विहार करते थे हजारों वर्ष पूर्व आयुर्वेद ने भोजन संबंधी ऐसे सिद्धान्त दिये जो उस काल के व्यक्तियों को स्वस्थ रखते थे तथा आज भी वे सिद्धान्त उसी प्रकार सत्य सिद्ध हैं। स्वास्थ्यकर भोजन अपनाना स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य के संरक्षण के लिए भी आवश्यक है, साथ ही रोगी व्यक्ति को भी शीघ्र चिकित्सा लाभ के लिए महत्वपूर्ण है।

विरुद्धआहार – शरीर की धातुओं के विपरीत गुण वाले तथा दोषों के अनुकूल द्रव्य विरुद्ध कहलाते हैं तथा जब इस प्रकार के द्रव्यों को भोजन के रूप में लिया जाता है तो वह विरुद्ध आहार कहलाता है, विरुद्ध आहार में कुछ द्रव्य परस्पर गुण

विरुद्ध, कुछ द्रव्य संयोग विरुद्ध, कुछ द्रव्य संस्कार विरुद्ध कुछ द्रव्य देश विरुद्ध, कुछ द्रव्य आत्म विरुद्ध, कुछ द्रव्य मात्रा विरुद्ध और कुछ द्रव्य स्वभाव विरुद्ध होते हैं। विरुद्ध द्रव्य या आहार दोषों के अनुकूल गुण वाले होने से शरीर में दोषों को प्रकृषित कर देते हैं, परिणामस्वरूप शरीर में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। अतः भोजन करते समय वैरोधिक आहार का ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

उदाहरणार्थ, भकोय या मूली के साथ गुड़ का प्रयोग नहीं करना चाहिए, मछली विशेष रूप से चिलिचिम मछली के साथ दूध नहीं पीना चाहिए। मांस को मधु, तिल, गुड़, मूली एवं अंकुरित धान्य के साथ नहीं खाना चाहिए। मूली, लहसुन, सरसों आदि खाने के बाद दूध नहीं पीना चाहिए। मधु एवं दूध के साथ पक्व बड़हर को नहीं खाना चाहिए। समान मात्रा में घृत एवं मधु को मिलाकर नहीं खाना चाहिए। दूध के साथ अम्लीयफल, करौदा, नींबू आदि नहीं खाने चाहिए।

दही के साथ दूध, खट्टे फल, तरबूज, गर्म पेय, मीट, मछली, आम, पनीर नहीं खाना चाहिए।

अंडों के साथ तरबूज, खरबूज, दही, मीट, मछली नहीं खाना चाहिए। मीट, मछली के साथ अंडे गरिष्ठ भोजन के साथ गरिष्ठ भोजन करने पर पचने में भारी होगा।

अष्ट आहार विधि विशेषयतन – आयुर्वेद में भोजन तथा भोजन ग्रहण करने के विशेष नियम हैं, जिन्हें आयतन संबा की गयी है, एक व्यक्ति के लिए आहार के आठ विशेष आयतन या सिद्धान्त है जिन्हें ध्यान में रखना चाहिए – तत्र खल्विमान्ष्टावाहार विधि विशेषयतनानि भवन्ति; तद्यथा—प्रकृति करण संयोग राशि देश कालोपयाग संस्थोपयोक्त्रष्टमानि ॥ चरक विमान 1

- प्रकृति

- करण
- संयोग
- राशि
- देश
- काल
- उपयोग संस्था
- उपयोक्ता

प्रकृति – किसी भी द्रव्य की प्रकृति उसका अपना गुण है।

उदाहरणार्थ मूंग की दाल चने की दाल की तुलना में पचने में हल्की होगी अर्थात् मूंग की दाल सुपाच्य है चने की दाल की तुलना में। इसी प्रकार प्राकृतिक रूप में सुअर का मांस भारी होगा तथा हरिण का मांस लघु होगा।

करण –निर्माण करना

करण का अभिप्राय जिसमें द्रव्य के गुणों में बदलाव लाया जाता है। ये प्रक्रियाएँ हैं – पकाना, मथना, चूर्ण करना, वातावरण के कारक जैसे – नमी, मौसम के अनुसार बदलाव, स्थान, किस पात्र में रखा गया है, कितने समय तक संधान के लिए रखा गया है आदि। उदाहरणार्थ कचालू (अरबी) को कच्चा खाने से सारे मुख से लेकर आँतो तक तथा सारे शरीर में असहिष्णुता कर देगी परन्तु इसी को पकाने या उबालने से यह स्वादिष्ट मधुर रस की हो जाती है एवं असहिष्णुता उत्पन्न नहीं करेगी। दही जो कि कास, श्वास एवं जोड़ों के दर्द को नहीं बढ़ाएगा। विष उचित शोधन एवं उचित प्रक्रियाओं से गुजरकर कार्यकारी औषधि के रूप में उपयोग होता है।

संयोग (मिश्रण)

कुछ द्रव्य जो अकेले प्रयोग करने पर दुर्गुण पैदा नहीं करते परन्तु मिला कर लेने पर दुर्गुण या विषाक्त लक्षण पैदा करते हैं। उदाहरणार्थ अकेले प्रयोग करने पर मधु एवं घृत स्वास्थ्य के लिए उत्तम होते हैं परन्तु बराबर मात्रा में एवं अधिक मात्रा, खा लेने पर पचने में भारी होकर अपने दुर्गुण पैदा कर देंगे। दूध, दही, मछली, शहद अकेले खाने पर स्वास्थ्यवर्धक होंगे परन्तु सम्मिलित होने पर दुर्गुण पैदा करेंगे।

राशि (मात्रा)

किसी वस्तु की कितनी मात्रा ली जा रही है या खाई जा रही है इसको राशि कहते हैं। एक अकेले द्रव्य की भोजन में ली जाने वाली मात्रा (परिग्रह) साथ ही साथ भोजन में प्रयुक्त सम्पूर्ण मात्रा (सर्वग्रह) को ध्यान में रखना चाहिए जब भी हम किसी व्यक्ति के भोजन की मात्रा का निर्णय कर रहे हों। यह किसी व्यक्ति के भोजन की अपनी पाचन शक्ति पर निर्भर करता है। भोजन की मात्रा पाचन को प्रभावित करती है पाचन शक्ति से अधिक मात्रा में भोजन करने से अजीर्ण हो जाता है। एक लघु या हल्का माना जाने वाला भोजन भी अधिक मात्रा में खा लेने पर उसका पाचन सम्भव नहीं हो पाया है।

देश –

जिस स्थान पर जो वनस्पति स्वभावतः होती है उसमें उत्तम गुण होते हैं। यदि उसी वनस्पति को प्रकृति के विरुद्ध दूसरी जलवायु में उत्पन्न किया जाये जो वह हीन गुणों वाली होगी। एक विशेष स्थान या जलवायु पर रहने वाले व्यक्तियों को उस देश जलवायु पर उत्पन्न होने वाली वनस्पतियां अधिक कार्यकारी होती हैं। अलग-अलग स्थानों पर उत्पन्न वही अन्न या वनस्पति अलग गुणों से युक्त होती हैं।

काल समय

ऋतु काल के अनुसार हमें अपना भोजन परिवर्तित कर देना चाहिए उदाहरण के लिए शीत ऋतु में पाचन शक्ति प्रबल रहती है इसलिए पचने में भारी भी पच जाता है। इस समय जठराग्नि तीव्र रहती है। ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतु में जठराग्नि मंद रहती है अतएव सुपाच्य हल्का भोजन लेना चाहिए। उदाहरणार्थ ग्रीष्म ऋतु में, फल, मूंग दाल, खिचड़ी, दलिया, तक, दूध ही सुपाच्य भोजन है।

इसी प्रकार रोग हो जाने पर भोजन वृद्ध दोष के अनुसार चयन करना चाहिए उदाहरणार्थ घी ज्वर के प्रारंभिक 7 दिनों तक नहीं लेना चाहिए जबकि ज्वर के जीर्ण होने अर्थात् 7 दिन के पश्चात घृत पान अच्छा रहता है। वह ज्वर की उष्णता से उत्पन्न रूक्षता को दूर करता है।

उपयोग संस्था (आहार के नियम)

आयुर्वेद में आहार के नियम बनाए गए हैं। सबसे महत्वपूर्ण नियम यह है कि भोजन पूर्व खाए हुए भोजन के जीर्ण या पाचन होने पर किया जाये। भोजन जीर्ण होने के मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं – लघुता, भूख लगना, प्यास, प्रसन्नता तथा प्राकृतिक मलमूत्र क्रियाओं का नियमित होना।

ताजा बना हुआ गुणगुना ऊष्ण भोजन जिसमें विरुद्धाहार न हो ऐसा भोजन करना चाहिए। भोजन उचित मात्रा में तथा पूर्व किए हुए भोजन के जीर्ण होने पर करना चाहिए तथा साफ-सुथरे एवं उचित स्थान पर करना चाहिए। भोजन वाले समय बहुत जल्दी या बहुत धीमी-धीमी गति से भोजन नहीं करना चाहिए। भोजन करते समय पूरा ध्यान भोजन करने में ही लगाना चाहिए उस समय हँसना बोलना वर्जित करना चाहिए।

भोजन करते समय इसके विपरीत चलना स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक है। अनुकूल तथा प्रतिकूल भोजन द्रव्यों को एक साथ खाना समशन कहलाता है। यह स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।

पूर्व में किए गए भोजन के जीर्ण या पाचन होने के पूर्व ही यदि पुनः भोजन किया जाता है तो यह अध्यशन है। इससे आम की उत्पत्ति होती है। जिससे कई रोगों की उत्पत्ति होती है।

अनियमित समय पर खाना, किसी समय कम तथा कभी अधिक भोजन करना विषमाशन कहलाता है। इसलिए नियमित रूप में तथा सही मात्रा में भोजन करना चाहिए।

उपयोक्ता

उपयोक्ता का अर्थ वह व्यक्ति है जो भोजन कर रहा है। उसको यह ज्ञात होना चाहिए कि कौन सा भोजन उसके लिए अनुकूल तथा कौन सा प्रतिकूल है। इसी के अनुसार उसे भोज्य पदार्थों का चयन उनका संयोग, उनका पाक, एवं भोजन काल का निर्धारण करना चाहिए।

सही भोजन के नियम

आयुर्वेद में स्वस्थ तथा आहार के 10 नियम कहे गये हैं। इनको आहार विधि विधान कहा जाता है। वह विधियाँ स्वस्थ तथा रोगी व्यक्ति दोनों के लिए ही अच्छे हैं। यह एक अच्छी आदत है कि व्यक्ति हमेशा ताजा बना हुआ गर्म भोजन ही ले। भोजन सही मात्रा में ले तथा विरुद्धाहार न करें। पूर्व किए गए भोजन के पूर्ण जीर्ण होने के बाद ही पुनः भोजन करे। उचित स्थान पर बैठकर भोजन करना चाहिए, अतिशीघ्र तथा अति मन्द गति से भी भोजन नहीं करना चाहिए। पूर्ण मनोयोग से बिना बातचीत किए बिना हंसी मजाक किए भोजन करना चाहिए तथा भोजन करते समय बीच-बीच में अल्प मात्रा में पानी पीना चाहिए।

ऊष्ण भोजन—

ताजा बनाया हुआ उष्ण भोजन स्वादिष्ट होता है। पाचन को बढ़ाता है। शीघ्र पचता है तथा श्लेष्मा को कम करता है।

स्निग्ध — स्निग्ध भोजन स्वादिष्ट होता है। पाचक रसों को उत्तेजित करता है। परन्तु पच जाता है। शरीर के लिए पोषक होता है, शक्ति वर्धक होता है, भूख एवं सौंदर्य बढ़ाता है, तथा इन्द्रियों को प्रसन्न रखता है।

मात्रावत्—

उचित मात्रा में लिया हुआ भोजन दोषों की समता बनाए रखता है। भोजन आसानी से पचता है सही समय पर आँतों में गति करता है तथा दीर्घजीवी बनाता है। अचार्य चरक ने आमाशय को 3 भाग में काल्पनिक विभाजन करके भोजन करने को कहा है। एक भाग को ठोस आहार से भरना है। दूसरे भाग को तरल से तथा तीसरे भाग को खाली रखना है। व्यक्ति को इससे पता चल सकता है कि उसने भोजन की मात्रा उचित ग्रहण की है या नहीं।

आहार ग्रहण काल—

यह सदैव उत्तम है कि व्यक्ति को पूर्व किए हुए भोजन के जीर्ण होने पर ही भोजन करना चाहिए। भोजन के जीर्ण होने के लक्षण हैं — भूख का पुनः लगना, प्यास, लघुता, उद्गार का आना, वायु मल मूत्र का उचित निस्सारण होना, हृदय तथा नाड़ियों में शुद्धता का अनुभव होना। भोजन करने की यह अच्छी आदत समय से भोजन का पाचन करती है। धातुओं को दूषित नहीं करती तथा दीर्घजीवी बनाती है।

अवैरोधिक आहार—

जो आहार हम कर रहे हैं वह विरुद्ध नहीं होना चाहिए।

इष्ट देश सर्व उपकरण —

भोजन उचित साफ सुथरे स्थान पर तथा सभी उपकरण साथ रहने चाहिए। इससे मानसिक तथा भौतिक व्यवधान दूर होते हैं। उदाहरणार्थ दुर्गधित स्थान पर भोजन करना तथा डरावनी जगह पर भोजन करने से मानसिक व्यवधान पैदा होकर भूख तथा पाचन पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

शीघ्रता से भोजन न करें —

भोजन तीव्र गति से नहीं करना चाहिए अपितु अन्न को धीरे-धीरे चबाकर उसी में मन लगाते हुए भोजन करना चाहिए। शीघ्र भोजन करने से एक तो भोजन के अच्छे स्वाद का ग्रहण नहीं हो पाता, भोजन लार से प्रथम पाचन से वंचित रहता है तथा भोजन का दाँतों से पिसना नहीं हो पाता।

अति विलम्बम से भोजन न करें —

बहुत धीरे-धीरे भोजन करने पर भी वह क्षुधा को शान्त नहीं कर पाता इससे भोजन शीत हो जाता है तथा अति मात्रा में भी खाया जा सकता है।

तन्मना आहार —

यदि कोई व्यक्ति वार्तालाप करते हुए, हंसते हुए भोजन करता है तो इससे भोजन श्वास नली में फंसने का भय होता है तथा स्वाद का भी पता कम लगता है। भोजन लार से नहीं मिल पाता है। अतः खाये गये भोजन का उचित

रूप में पाचन नहीं हो पाता है। अतः पूर्ण मनोयोग से प्रसन्न रहते हुए आहार ग्रहण करना चाहिए।

आत्म शक्ति के अनुरूप आहार – अपनी आत्मा के द्वारा यह विचार कर कि यह आहार द्रव्य मेरे लिए हितकर है तथा यह अहितकर, आहार की यह मात्रा उपयुक्त है तथा यह हीन या अत्यधिक है ऐसा विचार करके ही आहार करना चाहिए।

प्रश्नों द्वारा प्रकृति विनिश्चय			
प्रश्न	वातिक	पैत्तिक	कफज
कार्य करने की क्षमता	तीव्र गति अत्यधिक प्रारंभिक उत्साह से	मध्य गति	मंद गति
उत्तेजित होना	शीघ्र उत्तेजित	अति शीघ्र उत्तेजित	मंद गति से उत्तेजित
विषय को ग्रहण करने की क्षमता	शीघ्र	तीव्र	मंद
स्मृति	थोड़े समय के लिए	मध्यम	दीर्घकाल तक
पाचन शक्ति	अनियमित	उत्तम शक्ति	मंद
भूख सहने की क्षमता	कभी अच्छी कभी कम	कम	बहुत अच्छी
भोजन की मात्रा	कभी अधिक कभी	अधिक	सामान्य

	कम		
स्वाद जो अच्छा लगता हो	मधुर लवण खट्टा	मधुर, तिक्त कषाय	तीखा कषाय कडुवा
प्यास	अनियमित	शीघ्र	कभी-कभी
उष्ण शीत भोजन इच्छा	उष्ण भोजन	शीत भोजन	गर्म और रूखा भोजन
मल प्रवृत्ति	अनियमित	पतला मल	नियमित बंधा हुआ मल
स्वेद प्रवृत्ति	अल्प	दुर्गधित पसीना आसानी से आ जाना (स्वेद अधिकता)	सामान्य
मैथुनैच्छा	कम	मध्यम	अत्यधिक
निद्रा	कम एवं बाधित	सामान्य	अत्यधिक एवं गहरी निद्रा
स्वप्न	ऊड़ना, कूदना पर्वत पर चढ़ना आदि	लड़ाई हिंसा संघर्ष, अग्नि या लाल रंग के दृश्य देखना	जल बादल मधुर स्वप्न
समस्यओं के प्रति प्रतिक्रिया	अत्यधिक चिन्ता	क्रोध उग्रता चिड़चिड़ापन	शांत धीमी प्रतिक्रिया

भाषण (बोलना)	अत्यधिक बोलना शब्द छोड़ते हुए बोलना	तेज बोलना साफ बोलना	धीरे बोलना साफ गूँजते हुए शब्द
चलना	तीव्र गति से बदलती हुई चाल	सामान्य	धीमे-धीमे चलना मदमस्त चाल
चलते समय शेष शरीर की गति	पैर तथा कंधे आदि की तेज गतियाँ	सामान्य	अन्य अंगों की गतियाँ नहीं
केशों की स्थिति	अल्प एवं रूक्ष केश	असमय में ही पलित (बालों का सफेद हो जाना)	स्निग्ध, घने काले केश

इकाई – 3

घरेलू जड़ी-बूटियां तथा उनका औषधीय उपयोग

आयुर्वेदिक मसाले—

आयुर्वेदिक औषधियाँ इस तथ्य पर आधारित हैं कि मानव शरीर में भौतिक तथा आत्मिक साम्यता आवश्यक है। इस साम्यता को विभिन्न विधियों से सम अवस्था में रख सकते हैं तथा इसको सम रखना आवश्यक भी है। दोषों को समावस्था में रखने के लिए भोजन के साथ विभिन्न मसालों का प्रयोग करना चाहिए भोजन में प्रयोग होने वाले मसाले ऊष्ण या शीत वीर्य होते हैं जो कि पाचन तंत्र को सुचारू रखते हैं। एक मसाले में छः रसों में से कोई एक या अधिक रस हो सकते हैं। ये हैं मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय। प्रायःकर मसाले कटु रस प्रधान सुगंधित तेलों से युक्त हुए होते हैं जो कि विभिन्न मसालों के वृक्षों के फल, त्वचा, मूल, बीज, तना, छाल आदि होते हैं। इनका प्रयोग भोजन को सुगंधित व सुस्वाद बनाने के लिए होता है। आयुर्वेद में मसालों का बहुत महत्व है। मसाले अपने औषधीय गुणों स्वास्थ्यवर्धक गुणों के लिए अति महत्वपूर्ण हैं। अधोलिखित कुछ मसालों के नाम तथा उनके प्रयोग वर्णित हैं।

- **कालीमिर्च**— यह ऊष्णवीर्य कटु रस प्रधान औषधि है। यह पाचन शक्ति बढ़ाती है तथा पित्त की वृद्धि करती है। वात को चलायमान तथा कफ का छेदन (शरीर से निकालना) करती है।
- **इलायची**— यह मधुर एवं तीक्ष्ण स्वाद की औषधि है। यह शरीर में ऊष्णता प्रदान करती है तथा पाचन शक्ति को बढ़ाती है। यह हृदय के लिए उत्तम है तथा श्वास की दुर्गन्ध को दूर करती है। अधिक मात्रा में लेने पर यह पित्त को बढ़ाती है। यह वात एवं कफ को शान्त करती है।

- **लौंग**— लवंग या लौंग ऊष्ण वीर्य औषधि है तथा पाचन में वृद्धि करती है। विभिन्न भोजन द्रव्यों में इसे स्वाद बढ़ाने एवं सुगंध बढ़ाने के लिए प्रयोग करते हैं। यह पित्त को बढ़ाता है तथा वात, कफ को कम करता है।
- **धनियॉ**— कटु एवं कषाय रस प्रधान है। यह शीतलता प्रदान करता है। यह मधुर, तैलीय, शुष्क एवं लघु है। यह मूत्रदाह तथा कष्ट से मूत्र उतरने के लक्षण को कम करता है। भोजन के आचूषण की शक्ति को बढ़ाता है। वात एवं कफ का वृद्धि करता है तथा पित्त को शान्त करता है।
- **जीरा**— यह तिक्त, कटु एवं कषाय रस प्रधान द्रव्य है यह उष्णता प्रदान करने वाली औषधि है तथा लघु तैलीय है। यह अतिसार को दूर करता है एवं पाचन शक्ति बढ़ाता है। यह पित्त को बढ़ाता है तथा एवं कफ का शमन करता है।
- **मेथी**— यह तिक्त एवं कषाय रस वाली है। यह रूक्ष तथा ऊष्ण वीर्य प्रधान मसालों में आती है जो कि ज्वर तथा वात रोगों को दूर करती है। अधिक मात्रा में लेने से यह वात तथा पित्त को बढ़ाती है तथा कफ को घटाती है। जोड़ों के दर्द तथा मधुमेह में लाभदायक है।
- **लहसुन**— यह कटु रस प्रधान तीक्ष्ण स्वाद की औषधि है। यह ऊष्ण वीर्य प्रधान है। यह तैलीय तथा गुरु होता है। वात रोग की अच्छी औषधि है। खॉसी को दूर करती है। यह पित्त को बढ़ाती है तथा वात कफ शामक है। रक्तगत कोलेस्टेरॉल को घटाता है।
- **अदरक**— कटु रस प्रधान एवं उष्ण वीर्य युक्त औषधि द्रव्य है। यह मधुर, शुष्क तथा रूक्ष है। भूख एवं पाचन शक्ति को बढ़ाता है। अधिक मात्रा में

खाने से पित्त वर्धक है। यह वात एवं कफ का शमन करता है। कच्ची अदरक को सेंधा नमक के साथ भोजन के प्रारम्भ में लेना चाहिए।

- **सरसों के बीज**— तीक्ष्ण उष्ण द्रव्य है यह तैलीय लघु एवं चरपरे स्वाद का है। यह मॉसपेशियों की पीड़ा को दूर करता है। इसके बीज पित्तवर्धक है तथा वात एवं कफ को कम करते हैं।
- **केसर**— यह कषाय रस प्रधान तथा शीतवीर्य औषधि है। इससे अर्श में भी लाभ होता है। यह वात कफ वर्धक तथा पित्त नाशक है एवं बलकारक है।
- **लवण**— यह ऊष्ण, लवण, भारी, एवं रूक्ष है तथा रूचिकर एवं पाचन शक्ति वर्धक है। यह अधिक मात्रा में खाने पर उच्च रक्तचाप करता है तथा पानी का शरीर से उत्सर्जन कम कर देता है। यह वातहर तथा कफपित्त वर्धक है।
- **हल्दी**— यह तिक्त, कटु, कषाय रस वाला द्रव्य है। यह प्रमेह तथा अनूर्जता की अच्छी औषधि है। बहुमूत्रता, मधुमेह तथा त्वचा रोग में लाभकारी है। यह पाचन शक्ति को बढ़ाती है। अधिक खाने पर वात पित्तवर्धक तथा कफ हर है।
- **ताजे हरे पत्तेदार मसाले** — कुछ वनस्पतियों भोजन को सुगंधित करने, सुरुचि पैदा करने उनकी स्वास्थ्यवर्धक शक्ति को बढ़ाने तथा उनके औषधीय गुण को बढ़ाने का कार्य करती है। उदाहरणार्थ— धनियाँ के हरे पत्ते, पोदीना पत्र, मूलीपत्र, हरा प्याज आदि। ये गर्मी से कम प्रभाव व कम सुगंध वाले हो जाते हैं इसलिए इनको कच्चा ही ऊपर से भोजन के पकने के बाद डाला जाता है।

घरेलू अन्य औषधीय द्रव्य

ओसिमम सेन्क्टम

तुलसी— वानस्पतिक नाम— (Ocimum Sanctum)

प्रयोज्य अंग – पत्तियाँ व बीज

उत्पत्ति स्थान – सम्पूर्ण भारत।

हिमालय में 6 हजार फीट ऊँचाई तक होती है।

उपयोग –

1. उष्ण होने के कारण वातश्लैष्मिक विकारों जैसे खाँसी, ज्वर आदि में प्रयोग किया जाता है।
2. तुलसी के तेल में जन्तुधन, एंटी कैंसर, ज्वरधन गुण पाये जाते हैं।
3. यह हृदय के लिए गुणकारी है तथा रक्तशोधक होने के कारण त्वचा से किया जाता है।
4. नेत्र विकारों में भी तुलसी का प्रयोग ब्राह्म व आभ्यान्तर दोनों प्रकार से किया जाता है।
5. इसके बीज मूत्रल व शुक्ल होने से इसका प्रयोग मूत्रकृच्छ व शुक्रमेह में किया जाता है।
6. प्राचीन काल से ही इसका प्रयोग विभिन्न विषों के निराकरण के लिए किया जाता है।

पुदीना

वानस्पतिक नाम— मेंथा स्पाइकेटा (Metha spicata)

प्रयोज्य अंग – पंचाग, तेल

उत्पत्ति स्थान— संपूर्ण भारत वर्ष

उपयोग—

1. पुदीना, रेचन, दीपन, होने के कारण अरूचि वमन आदि में प्रयोग किया जाता है।

2. यह वातानुलोमक वेदनास्थापन, दुर्गन्धनाशक जन्तुघ्न व व्रणरोपक है अतः दर्द वाले

स्थानों में लेप चोट वाले स्थानों में लगाने व मुखदुर्गन्ध नाशन के लिए इसके स्वरस से

कुल्ला करते हैं।

3. तीक्ष्ण, उष्ण होने से कफ वातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

4. इसकी पत्तियों का क्वाथ बुखार, पेट के दर्द, कष्टार्तव व रजोरोध में उपयोगी है।

5. मुँह के छाले, मसूड़ों की सूजन व दाँत दर्द में भी यह लाभकर है।

कुमारी

वानस्पतिक नाम – एलोवीरा (Aloe vera)

प्रयोज्य अंग – मूल, पत्र

उत्पत्ति स्थान – भारत वर्ष में 5000 फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

उपयोग –

1. यह शोथहर और और वेदनास्थापन है। गलगण्ड में इसके मूल व पत्र का लेप करते हैं।

इससे सिद्ध तेल का अभ्यंग दौर्बल्य और वातव्याधि में करते हैं।

2. यह मस्तिष्कशामक है अतः मूर्च्छा, भ्रम व अनिद्रा में प्रयुक्त होता है।

3. यह रक्त भार शामक होने से उच्चरक्तचाप में उपयोगी है।

4. बाजीकरण तथा गर्भाशयशोथहर होने से शुक्रदौर्बल्य, प्रदर तथा योनिशूल में दिया जाता

है।

5. यह मूत्रल, कुष्ठध्न व उत्तम रसायन है।

शतावरी

वानस्पतिक नाम— एसपेरेगस रेसीमोसस (*Asparagus racemosus*)

प्रयोज्य अंग — कन्द

उत्पत्ति स्थान — उत्तर भारत में बहुतायत से तथा हिमालय में 4000 फीट तक की ऊँचाई पर पाया जाता है।

उपयोग—

1. यह वातपित्त शामक है। इससे सिद्ध तेलों का प्रयोग शिरोरोग, वातव्याधि व दौर्बल्य में

करते हैं।

2. यह शुक्ल गर्भपोषक व स्तन्यजनन है इसलिए शुक्रक्षय, गर्भक्षय, गर्भस्राव, रक्तप्रदर व

स्तन्यक्षय में प्रयोग में लाया जाता है।

3. यह अम्लपित्त, शूल, ग्रहणी, अर्श व दौर्बल्य नाशक है।

4. छोटी माता होने पर इसके पत्तों का लेप दाह शमक का काम करता है।

5. सभी आयु की स्त्रियों के लिए बल्य व रसायन है।

भृंगराज

वानस्पतिक नाम— एक्लिप्टा एल्बा (*Eclipta alba*)

प्रयोज्य अंग – पंचांग

उत्पत्ति स्थान – सम्पूर्ण भारत वर्ष

उपयोग

1. भृंगराज बालों के लिए और यकृत शोथ में मुख्यरूप से प्रयोग की जाने वाली औषधि

है।

2. यह किडनी और लीवर की कारगर औषधि है। बालों का असमय सफेद होना, झड़ने में

भृंगराज तैल का नियमित उपयोग लाभदायक होता है। अनिद्रा में भी तैल लाभप्रद है।

3. यह मूत्रल है अतः मूत्र दाह में लाभ करता है।

4. यह स्वेदजनन हैं तथा त्वक् विकारों में लाभकर है।

5. गर्भाशयगत रक्तस्राव तथा प्रसूतिजन्य गर्भशय शूल की यह उत्तम औषधि है।

छोटी इलायची

वानस्पतिक नाम – इलेटेरिया कार्डामोमम (**Elettaria Cardamomum**)

प्रयोज्य अंग – बीज

उत्पत्ति स्थान – दक्षिण भारत

उपयोग –

1. इलायची, मुखरोग, वमन, अरुचि, अग्निमांद्य में प्रयुक्त होती है।

2. यह श्वास व कास में भी लाभदायक है।

3. यह वातानुलोमक होने से उदर शूल तथा पेट के फूलने में भी प्रयोग की जाती है।

4. इसके बीजों का तेल पाचक तथा अम्लपित्त में लाभकर है।
5. यह नेत्रदाह, गलशोथ, श्वास तथा दाँत व मसूड़ों के रोगों में लाभकर है।

पपीता

वानस्पतिक नाम – केरिका पपाया (**Carica Papaya**)

प्रयोज्य अंग – फल, पत्र, दूध, बीज

उत्पत्तिस्थान – सम्पूर्ण भारतवर्ष

उपयोग–

1. इसमें पाये जाने वाले कायमोपापेन और पापेन (**Chymopapain & papain**)

पाचक है इसलिए यह पाचन सम्बन्धी रोगों व आन्त्र कृमि में लाभकर है।

2. इसके दूध का प्रयोग सोरायसिस तथा रिंगवर्म में किया जाता है।
3. इसके मूल के क्वाथ का प्रयोग मूत्राश्मरी तथा मूत्रकृच्छ में करते हैं।
4. इसके दूध व बीजों का प्रयोग रजोरोध, कष्टार्तव में किया जाता है।

दालचीनी

वानस्पतिक नाम – सिन्नामोसम जिलेनिकम (**Cinnamomum Zeylanicum**)

प्रयोज्य अंग – छाल

उत्पत्ति स्थान – दक्षिण पश्चिम भारत में समुद्र किनारे एवं श्रीलंका

उपयोग –

1. यह मुखशोधन, मुखदुर्गन्ध नाशन है।

2. यह भारतीय भोजन में गर्म मसालों के रूप में प्रयोग किया जाता है। यह उत्तम दीपन द्रव्य है।
3. यह हृद्दौर्बल्य में उपयोगी है तथा कोलेस्ट्रॉल व ट्राइग्लिसराईड को कम करने के काम आता है।
4. यह वातानुलोमक एवं ग्राही है अतः उदर में वायु संचित होने (आफरा) तथा अतिसार में भी उपयोगी है।
5. यह अरुचि, श्वास कास में उपयोगी है।
6. मूत्रकृच्छ रजोरोध में इसका चूर्ण देने पर लाभ होता है।

धतूरा

वानस्पतिक नाम – धतूरा मेटल (Datura Metal)

प्रयोज्य अंग – बीज, पुष्प व पत्र

उत्पत्ति स्थान – उत्तर पश्चिम हिमालय

उपयोग–

1. वेदना स्थापन होने से इसके पत्रों का लेप दर्द वाले स्थानों पर किया जाता है।
2. अम्लपित्त, परिणामशूल और पित्ताश्मरी में इसका प्रयोग लाभकर है।
3. यह श्वास रोग की उत्तम औषधि है।
4. इसके पत्र, पुष्प मजरी और बीज वेदना स्थापक, मादक गुण वाले होते हैं।

अदरख (सौंठ)

वानस्पतिक नाम – जिंजीबर ओफिसिनेल

प्रयोज्य अंग – कंद

उत्पत्ति स्थान – सम्पूर्ण भारतवर्ष

उपयोग–

1. अदरख की चाय (क्वाथ) सर्दी जुकाम व कफ की उत्तम औषधि है।
2. खून को पतला करने के गुण के कारण तथा कोलेस्ट्रॉल को कम करने के कारण यह हृदय रोगों में प्रयोग किया जाता है।
3. स्मुद्री यात्रा, हवाई यात्रा तथा गर्भावस्था जन्य वमन में यह कारगर औषधि है।
4. अरुचि, उदरशूल, अतिसार तथा कास में भी यह लाभकर है। यह दीपन पाचन कर्म करता है।
5. यह आम पाचक है, अतः शरीर में उत्पन्न आम को नष्ट करता है।

गुड़मार

वानस्पतिक नाम – जिम्नेमा सिल्वेस्ट्रा (*Gymnema sylvestre*)

प्रयोज्य अंग – पंचांग

उत्पत्ति स्थान – मध्य व दक्षिण भारत

उपयोग –

1. यह रक्त में शर्करा की उपस्थिति को नियंत्रित करता है अतः मधुमेह में प्रयोग किया जाता है।
2. इसकी जड़ का चूर्ण सर्पदंश के ब्रण पर लगाने के काम आता है।
3. यह यकृत व प्लीहा शोथ, अरुचि, विबन्ध व पीलिया की कारगर औषधि है।
4. प्रतिश्याय कास व श्वास में इसके बीजों का चूर्ण देते हैं।
5. मूल का क्वाथ सर्पविष में पिलाते हैं।

अखरोट

वानस्पतिक नाम – जुग्लान रेजिया (**Juglans Regia**)

प्रयोज्य अंग – फल तथा पत्र

उत्पत्ति स्थान – हिमालय व खासी की पहाड़ियां

उपयोग–

1. इसके बीज पौष्टिक, बल्य एवं पोषक हैं उसमें जीवनीय ए,बी,सी (**vit A.B.C**)
2. इसके फल और पत्र कृमिघ्न, शोथघ्न्य हैं।
3. इसका तेल मासिक धर्म संबंधी विकारों तथा त्वक विकारों में कारगर है।
4. इसके बीज अश्मरीघ्न व मूत्रल है।
5. इसके लेप त्वक विकारों में लगाया जाता है।
6. इसमें कैंसर नाशक गुण पाये जाते है।
7. अखरोट के बीजों का तैल स्फीत कृमि (**Tape worm**) नाशक है।

कमल

वानस्पतिक नाम – निलूम्बियम स्पेसियोसम (**Nelumbium speciosum**)

प्रयोज्य अंग – फल, मूल, पुष्प व बीज

उत्पत्ति स्थान – समस्त भारत वर्ष में तालाबों में।

उपयोग–

1. यह दाह, मूत्र संबंधी व्याधियों मानसिक रोगों की उत्तम औषधि है।

2. इसकी पत्तियों को अतिसार लू लगने तथा रक्त वमन में प्रयोग करते हैं।
3. यह त्वक रोगों में भी कारगर है।
4. इसकी पत्तियाँ और फूल अर्श तथा रक्तस्राव सम्बन्धी रोगों में लाभकर है।
5. यह हृदय बल्य है तथा हृदय संरक्षण करता है।

खसखस (पोस्त)

वानस्पतिक नाम – पापावर सोम्निफेरम (Papavar Somniferum)

प्रयोज्य अंग – बीज, पुष्प

उत्पत्ति स्थान – भारत वर्ष में 1500 मीटर से 2100 मीटर की ऊँचाई तक पाया जाता है।

उपयोग –

1. संधिशोथ या शरीर के अन्य भागों के शोथ या पीड़ा में इसका लेप करते हैं।
2. यह वेदना शामक होने के साथ-साथ निद्राजनन भी है।
3. आक्षेपहर होने के कारण अपस्मार, कम्पवात, धनुर्स्तम्भ में प्रयोग किया जाता है।
4. शूलप्रशमन व स्तम्भन होने से उदरशूल व अतिसार में लाभकर है।
5. यह मदकारक है।

पिप्पली

वानस्पतिक नाम – पाइपर लेंगम (Piper longum)

प्रयोज्य अंग – फल, मूल

उत्पत्ति स्थान – भारत के उष्ण प्रदेशों जैसे बंगाल बिहार आसाम में मिलता है।

उपयोग—

1. शोथयुक्त वेदना को शान्त करने के लिए इसका लेप किया जाता है।
2. यह अरुचि, अग्निमांद्य, अजीर्ण, विबन्ध, गुल्म उदरशूल में प्रयुक्त होता है।
3. शुक्रदौर्बल्य, रजोरोध और कष्ट प्रसव में लाभकारी है।
4. जीर्णज्वर में गुड़ के साथ इसका चूर्ण लाभकर है।

अनार

वानस्पतिक नाम – प्यूनिका ग्रेनेटम (**Punica granatum**)

प्रयोज्य अंग – फल, फलत्वक

उत्पत्ति स्थान – सम्पूर्ण भारत वर्ष

उपयोग—

1. यह कई रोगों की कारगर औषधि है। इसके रस से रक्त के कोलेस्ट्रॉल की मात्रा नियंत्रित होती है।
2. इसकी छाल के काढ़े से मुख व कण्ठ रोगों में गरारे करते हैं।
3. अरुचि, अग्निमांद्य, अतिसार की प्रशस्त औषधि है।
4. इसके फलों से ज्वर के उपद्रव शान्त होकर रोगी के बल में वृद्धि होती है।
5. इसके फलों में एन्टीआक्सीडेंट पाये जाते हैं जो शरीर में कैंसर से लड़ने की शक्ति पैदा करते हैं।

गुलाब

वानस्पतिक नाम – रोजिया ऐण्टिफोलिया (**Rosea centifolia**)

प्रयोज्य अंग – पुष्प दल, तेल

उत्पत्ति स्थान – सम्पूर्ण भारत वर्ष

उपयोग–

1. यह उच्चरक्तचाप, अतिसार, कष्टार्तव, ज्वर, अनिद्रा में लाभकारी है।
2. त्वक विकारों में इसका चूर्ण या लेप लगाते है।
3. यह पाचनविकार तथा विबन्ध में उपयोगी है।
4. रक्तपित्त, हृदयरोग तथा दौर्बल्य में प्रयोग किया जाता है।

सफेद मूसली

वानस्पतिक नाम – क्लोरोफाइटम एरुण्डिनेसियम (Chlorophytum arundenaceum)

प्रयोज्य अंग – कन्द

उत्पत्ति स्थान – पश्चिमी हिमालय में 5300 फीट तक

उपयोग–

1. यह वृश्य एवं है अतः दोर्बल्य कृशता में प्रयोग किया जाता है।
2. इसके सेवन से शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि होती है।

रीठा

वानस्पतिक नाम – सेपिन्डस म्यूकोरोसी (Sapindus mukorossi)

प्रयोज्य अंग – फल

उत्पत्ति स्थान – सम्पूर्ण भारत वर्ष

उपयोग–

1. यह विशेष रूप से साबुन व शैंपू बनाने के लिए प्रयोग किया जाता है।

2. यह शोथहर, वेदना स्थापन, विषध्न तथा कुष्ठध्न है।
3. कफनिसारक गर्भाशय संकोचक तथा कुष्ठध्न है।
4. इसके फल के चूर्ण का नस्य अर्धावभेदक, मूर्च्छा, अपतंत्रक तथा श्वास में देते है।

शंखपुष्पी

वानस्पतिक नाम – कोनवॉल्वुलस प्लूरिकौलिस (Convolvulus Pluricaulis)

प्रयोज्य अंग – पंचांग

उत्पत्ति स्थान – सम्पूर्ण भारत वर्ष

उपयोग–

1. यह मेध्य तथा नाड़ियों के लिए बलप्रद है। यह निद्राजनन भी है।
2. यह शीतवीर्य होने से रक्तस्तंभक है तथा उच्च रक्तचाप को कम करती है।
3. यह मूत्र विरेचनीय वृष्य तथा प्रजास्थापन है।
4. यह रक्तवमन की अद्वितीय औषधि है।
5. यह शुक्रदौर्बल्य तथा गर्भाशय दौर्बल्य की प्रशस्त औषध है।

गुडुची

वानस्पतिक नाम – टिनिस्पोरा कार्डिफोलिया (Tinospora Cordifolia)

प्रयोज्य अंग – काण्ड

उत्पत्ति स्थान – उत्तर और दक्षिण भारत

उपयोग–

1. यह त्रिदोष शामक है। घृत के साथ वात, शर्करा के साथ पित तथा मधु के साथ कफ विकारों में दिया जाता है।
2. कुष्ठ वातरक्त में इससे सिद्ध घृत का प्रयोग किया जाता है।
3. इसका सत्व जीर्ण ज्वर तथा दाह में प्रयोग करते हैं। यह बल्य भी है।
4. दौर्बल्य, क्षय में तथा रसायन कर्म में प्रयोग होता है।
5. इसे मूत्राशमरी में भी प्रयोग करते हैं।

हरीतकी

वानस्पतिक नाम – टर्मिनेलिया चेबुला (**Terminalia Chebula**)

प्रयोज्य अंग – फल त्वक्

उत्पत्ति स्थान – सम्पूर्ण भारतवर्ष

उपयोग–

1. इसका लेप शोथहर वेदनास्थापन, व्रण शोधन व्रण रोपण है।
2. यह दीपन, पाचन, यकृदुत्तेजक, मृदुरेचन है।
3. यह वृश्य, गर्भाशय शोथहर तथा प्रजास्थापन है।
4. इसके क्वाथ से मुख तथा गले के रोगों में कुल्ला करते है।
5. कोष्ठ शोधन के लिए हरीतकी सर्वश्रेष्ठ द्रव्य है।
6. शुक्रमेह, श्वेतप्रदर तथा गर्भाशय दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।
7. इसका चूर्ण सोंठ के साथ मिलाकर गर्म पानी के साथ सेवन करने से हक्का में लाभकर है।

बहेड़ा

वानस्पतिक नाम – टर्मिनेलिया बेलेरिका (**Terminalia belerica**)

प्रयोज्य अंग – फल

उत्पत्ति स्थान – सम्पूर्ण भारतवर्ष

उपयोग–

1. शोथ वेदना युक्त स्थानों में इसके फल का लेप करते हैं।
2. इसका तेल चर्मरोगों, शिवत्र, पालित्य में प्रयोग किया जाता है।
3. ठसे भूनकर प्रयोग करने से कफ, कण्ठ शोथ तथा श्वास में फायदा मिलता है।
4. वातव्याधि, अनिद्रा में इसकी मज्जा का प्रयोग करते हैं।
5. अभिष्यंद में इसके फल का लेप नेत्र पर लगाते हैं।
6. इससे सिद्ध तेल, खालित्य, पालित्य में प्रयोग में लाते हैं।
7. इसके अर्धपक्व फल विबन्ध में तथा पक्व शुष्क फल अतिसार प्रवाहिका में देते हैं।
8. यह रक्तष्ठीवन में प्रयोग किया जाता है।

ऑवला

वानस्पतिक नाम – एम्ब्लिका ऑफिसिनेलिस (**Emblica officinalis**)

प्रयोज्य अंग – फल

उत्पत्ति स्थान – उत्तरी तथा दक्षिण पश्चिमी भारत

उपयोग–

1. यह विटामिन सी का सर्वोत्तम वानस्पतिक स्रोत है अतः यह स्क्र्वी रोग में शर्करा व दूध के साथ प्रयोग कराये जाने पर लाभदायक परिणाम देता है।
2. यह हृदय के लिए बल्य हैं शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाता है।
3. यह एक उत्तम रसायन है तथा मधुमेह में भी लाभकर परिणाम दिखाता है।

4. बलों के लिए लाभकारी है तथा बालों को सफेद होने तथा झड़ने से रोकता है।
5. शुक्रमेह प्रदर तथा गर्भाशय दौर्बल्य में उपयोगी है।
6. इसके फल का चूर्ण दृष्टिमाद्य अरुचि, अम्लपित, परिणामशूल, उदररोग, प्रमेह तथा अर्श में लाभकर हैं।

जामुन

वानस्पतिक नाम – सिजीजियम क्यूमिनाइ (*Syzygium cumini*)

प्रयोज्य अंग – छाल, फल, बीज, पत्र

उत्पत्ति स्थान – सम्पूर्ण भारतवर्ष

उपयोग–

1. इसकी छाल व फल उत्तम मधुमेह नाशक है।
2. रक्तस्राव होने पर तथा व्रणों पर इसकी छाल का अवचूर्णन करते हैं।
3. इसके पत्र का चूर्ण मसूड़ों को मजबूत बनाने के लिये देते हैं। कोमल पत्र वमन में प्रयुक्त होते हैं।
4. इसके बीज का चूर्ण रक्तप्रदर रक्तातिसार में देते है।
5. इसकी छाल व बीजों का क्वाथ अरुचि नाशक, मूत्रल, पाचक तथा कृमिघ्न है।

बेल

वानस्पतिक नाम – एजिल मार्मेलोस (*Aegle marmelos*)

प्रयोज्य अंग – मूल, त्वक, पत्र, फल

उत्पत्ति स्थान – सम्पूर्ण भारत वर्ष में 4000 फीट की ऊँचाई तक मिलता है।

उपयोग–

1. नेत्राभिष्यंद में पत्र का स्वरस नेत्र में डालते हैं तथा पत्तियों का लेप लगाते हैं।
2. इसका मूल वातव्याधि, आक्षेपक, उन्माद, अनिद्रा में प्रयुक्त होता है।
3. मूलत्वक् तथा फल चूर्ण अतिसार, प्रवाहिका तथा ग्रहणी में प्रयुक्त होता है।
4. यह गर्भाशय शोथ, श्वेतप्रदर तथा सूतिका रोग को दूर करता है।
5. इसके पत्र का क्वाथ अम्लपित्त तथा मूल कर्ण रोगों में लाभकर है।

अजवाइन

वानस्पतिक नाम – ट्रेकीस्पर्मम् अम्मी (*Trachyspermum ammi*)

प्रयोज्य अंग – बीज

उत्पत्ति स्थान – मध्य, प्रदेश, आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात

उपयोग–

1. यह कफवात विकारों में प्रयुक्त होता है।
2. इसका लेप या तेल का अभ्यंग शोथ वेदनायुक्त विकारों में करते हैं। आध्मान में लेप या पोटली बना कर सकते हैं।
3. जीर्ण कास, श्वास में इसका चूर्ण देते है।
4. मूत्राघात कष्टार्तव तथा सूतिकारोग में उपयोगी हैं।
5. यह त्वक् दोषों में प्रयुक्त होता है।
6. उद्वेष्टन रोधी होने से उदर शूल में लाभकारी है, अजीर्ण से उत्पन्न विकारों में अजवायन चूर्ण एवं सेंधानमक मिलाकर देने से लाभ होता है।

सौंफ

वानस्पतिक नाम – फिनिक्यूलम् वलगेरी (foeniculum Vulgare)

प्रयोज्य अंग – बीज

उत्पत्ति स्थान – सम्पूर्ण भारतवर्ष

उपयोग–

1. वमन, तृष्णा, अजीर्ण, उदरशूल व प्रवाहिका में प्रयोग किया जाता है।
2. यह श्वास, कास, मूत्राघात, मूत्रकृच्छ में लाभकर है।
3. स्तन्याल्पता में तथा शुक्र वृद्धि के लिए प्रयुक्त होता है।

हल्दी

वानस्पतिक नाम – कुरकुमा लोंगा (Curcuma longa)

प्रयोज्य अंग – मूल

उत्पत्ति स्थान – सम्पूर्ण भारतवर्ष

उपयोग–

1. आमवात, शोथ वेदना तथा व्रण वाले स्थानों पर लेप किया जाता है।
2. अरुचि, विबन्ध, कामला, जलोदर व कृमि में प्रयोग किया जाता है।
3. शीतपित्त की उत्तम औषधि है।
4. प्रसवोत्तर विकार तथा स्तन्यविकारों शुक्रमेह में लाभकर हैं।
5. जीर्ण ज्वर, कुष्ठ व दौर्बल्य में उपयोगी है।

हींग

वानस्पतिक नाम – फेरुला नारथेक्स (Ferula nartherx)

प्रयोज्य अंग – निर्यास

उत्पत्ति स्थान – भारत में कश्मीर, अफगानिस्तान, फारस

उपयोग–

1. यह दीपन पाचन एवं वातानुलोमक है। आध्मान एवं उदर मूल में इसका उपयोग करते हैं।
2. आध्मान में उदर पर हींग का लेप करते हैं। श्वास कास में छाती पर लेप करते हैं।
3. रजः कृच्छ में तथा प्रसव के बाद देने से गर्भाशय शुद्ध होता है।
4. मूत्राघात, विषमज्वर तथा कण्डु में लाभप्रद है।

लौंग

वानस्पतिक नाम – कारियोफालस् एरोमेटिकस् (Caryophyllus aromaticus)

प्रयोज्य अंग – कली

उत्पत्ति स्थान – दक्षिण भारत

उपयोग–

1. शिरःशूल तथा प्रतिश्याय में ललाट पर इसका लेप लगाते हैं।
2. मुख व कण्ठरोगों में चूसते हैं। दाँत दर्द में इसका लेप लाभदायक है।
3. अरुचि, अग्निमांद्य, उदरशूल, अम्लपित्त में लाभदायक है।
4. यह शुक्रस्तम्भन है। स्तन्यवृद्धि और स्तन्यशोधन के लिए उपयोगी है।
5. मूत्रकृच्छ, चर्मरोगों तथा ज्वर में लाभदायक है।

मेथी

वानस्पतिक नाम – ट्राइगोनेल्ला फोएनम् (Triganella foenum graecum)

प्रयोज्य अंग – पत्र, बीज

उत्पत्ति स्थान – सम्पूर्ण भारतवर्ष

उपयोग–

1. वातशामक है। पीड़ा, शोथ विद्रधि में इसे पीसकर गर्म लेप लगाते हैं।
2. नाड़ीदौर्बल्य, अग्निमांघ, शूल में चूर्ण प्रयोग करते हैं।
3. प्रसव के बाद स्तन्यवृद्धि के लिए प्रयोग किया जाता है।
4. दौर्बल्य में भी लाभकर है।

धनियों

वानस्पतिक नाम – केरिएण्डर सटाइवम् (Coriander Sativum)

प्रयोज्य अंग – बीज और पत्र

उत्पत्ति स्थान – सम्पूर्ण भारतवर्ष

उपयोग–

1. मुखपाक व गले के रोगों में इसके रस का गंडूष करते हैं। नासागत रक्तस्राव में इसका नस्य देते हैं।
2. इसका क्षीरपाक भ्रम, मूर्च्छा, स्मृतिहास में लाभकर है।
3. मूत्रकृच्छ, प्रमेह तथा ज्वर में लाभदायक है।

कालीमिर्च

वानस्पतिक नाम – पाइपर नाइग्रम (Piper nigrum)

प्रयोज्य अंग – बीज

उत्पत्ति स्थान – दक्षिण भारत

उपयोग–

1. कफवातजन्य विकारों में लाभकर है।
2. नाड़ी दौर्बल्य, हृद्दौर्बल्य में उपयोगी है।
3. मूत्रकृच्छ, रजोरोध में लाभकर है।
4. प्रतिश्याय, कास, श्वास में उपयोगी है।
5. कुष्ठ, चर्मरोगों में लेप करते हैं।
6. शीतज्वर में इसका प्रयोग लाभकर है।

इकाई – 4

पोषक तत्वों के आयुर्वेदिक स्रोत

आयुर्वेद के अनुसार भोजन मात्र प्रोटीन, विटामिन, वसा तथा कार्बोहाइड्रेट का मिश्रण नहीं है बल्कि यह एक ऐसा द्रव्य है जो शरीर के साथ ही साथ मस्तिष्क व आत्मा को भी ऊर्जा प्रदान करता है। भोजन ग्रहण करने के पश्चात् भोजन का आंत्र में पाचन होता है तथा पाचन के पश्चात् आहार रस से धातुओं का पोषण होता है तथा समस्त धातुओं के सार भाग ओज का निर्माण होता है।

ओज भोजन के पाचन के पश्चात् बना अन्तिम परिसंस्कृत भाग है जो शरीर की सातों धातुओं का उत्कृष्ट सार भाग है। भोजन का ठीक प्रकार से पाचन न होने के कारण जो अर्धपक्व पदार्थ विष के समान गुणधर्म वाला होता है, जो शरीर में तरह-तरह के विकार पैदा करता है तथा शरीर को पुष्ट करने के काम नहीं आता क्योंकि हित-कर आहार से शरीर की पुष्टि होती है तथा अहितकर आहार से शरीर रोग ग्रस्त हो जाता है – “आहारसंभवं वस्तु रोगाश्रचाद्वार संभवाः। हिताहित विशेषाच्च विशेषः सुखदुःखयोः (चरक सू0 28/45)

अतः आयुर्वेद मतानुसार चुना गया, तथा खाने योग्य तैयार कर अष्ट आहार विध विशेषा यतनों (प्रकृति, करण, संयोग, राशि देश, काल उपयोग संस्था एवं उपयोक्ता) की पालना के साथ आहार ग्रहण करने पर उसके पाचन से बना आहार रस शरीर की सभी धातुओं को पुष्ट कर शरीर को ऊर्जावान व ओजयुक्त बनाता है।

आयुर्वेद मतातनुसार हमारे शरीर की आहार की आवश्यकता व्यक्ति की प्रकृति पर निर्भर करती हैं। किसी व्यक्ति का आहार उस व्यक्ति की प्रकृति, वय (उम्र) तथा लिंग पर भी निर्भर करता है। मौसम के अनुसार भी आहार में बदलाव

लाया जाता है। आहार में बदलाव का निर्धारण आयुर्वेदिक चिकित्सक द्वारा व्यक्ति विशेष की प्रकृति आदि का निर्धारण कर किया जाता है। उचित आहार घटकों के चयन के साथ ही साथ आहार पाक की विधि तथा आहार ग्रहण की विधियाँ व आहार ग्रहण काल का भी निर्धारण किया जाता है कि किस चीज के अनुपात से आहार का सम्यक् पाक होकर वह शरीर की पुष्टि कर सके। खाये गये आहार का सम्यक् पाचन हो सके इसके लिए आहार की मात्रा का भी निर्धारण होना चाहिए। मात्रा पूर्वक खाया गया अन्न शरीर के लिए सभी प्रकार से हितकर होता है। आहार की जो मात्रा भोजन करने वाले की प्रकृति में बाधा न पहुँचाते हुए यथा समय पच जाये वही उस व्यक्ति के लिए प्रमाणित मात्रा होती है, यथा समय से अभिप्राय है द्वितीय भोजन काल में भूख लगना तथा भोजन के प्रति रूचि का होना।

आयुर्वेदिक भोज्य पदार्थों का वर्गीकरण –

संहिता में सुश्रुत चरक संहिता से अधिक विस्तार पूर्वक आहार द्रव्यों का वर्गीकरण किया है।

चरक संहिता के अनुसार भोज्य पदार्थों का वर्गीकरण निम्न प्रकार है –

1. शूकधान्य (गेहूं, चावल आदि)
2. शमीधान्य (दालें)
3. मंस
4. शाक (वनस्पतियों)
5. फल
6. हरित (सुरसादि गण)
7. मद्य
8. गोरस (दुग्ध एवं दुग्ध से बने पदार्थ)

9. अम्बु (जल)

10. इक्षु

11. कृतान्न

आचार्य सुश्रुत ने भोज्य पदार्थों को 21 वर्गों में विभाजित किया है, जो निम्नवत् हैं –

1. अम्बु वर्ग

2. क्षीर वर्ग (दुग्ध)

3. दधि (दही)

4. तक्र वर्ग (मठ्ठा)

5. घृत वर्ग (घृत एवं मक्खन)

6. तैल वर्ग

7. मधु

8. इक्षु

9. मद्य

10. शालि वर्ग

11. कुधान्य

12. मुद्ग वर्ग (दालें)

13. मांस वर्ग

14. फल

15. शाक (वनस्पतियों)

16. कंद

17. लवण वर्ग

18. कृतान्न

19. भक्ष्य (मीठे पदार्थ)

20. पनक (पेय पदार्थ)

21. टनुपान

भोज्य पदार्थों के इन सभी वर्गों के घटकों से संतुलित आहार का निर्माण होता है। चावल, गेहूँ आदि से कार्बोहाइड्रेट, दालों, दूध से बने पदार्थों से प्रोटीन, घी मक्खन आदि से बसा तथा वनस्पतियों तथा फलों से जीवनीय द्रव्य एवं खनिज (Vitamins and minerals)

आयुर्वेद में पोषण का सिद्धान्त

समस्त भोज्य पदार्थों को उनके मुख्य रस के अनुसार छः वर्गों में विभाजित किया गया है, ये इस प्रकार हैं – मधुर, अम्ल, लवण, कटु तिक्त और कषाय।

आयुर्वेद मतानुसार हमें अपने हर बार के मुख्य भोजन में प्रत्येक प्रकार के रस युक्त भोजन को सम्मिलित करना चाहिए। प्रत्येक रस में भोजन के पूर्ण पाचन का गुण होता है। शरीर को आवश्यक समस्त पोषक द्रव्यों की प्राप्ति होती है, चरक संहिता के अनुसार मनुष्य को सर्व रसों (छः रस) का अभ्यास करना चाहिए इससे शरीर में बल की प्राप्ति होती है।

पूर्ण और संतुलित आहार के लिए यह आवश्यक है प्रत्येक रस वाले पदार्थों को हम अपने भोजन में शामिल करें। उदाहरणार्थ वनस्पतियों और फलों में मधुर रस के लिए गाजर, अम्ल रस हेतु नींबू, संतरा, एवं अन्य सभी फल तिक्त रस के लिए करेला, कटु एवं ऑवला आदि का सेवन करना चाहिए। आमलकी रसायन जो कि ऑवले से निर्मित होता है उसमें लवण के अतिरिक्त शेष पाँचों रस उपस्थित होते हैं, अतः ऑवले का उपयोग फल, स्वरस, चूर्ण एवं अन्य औषधीय रूप में किया जाना चाहिए।

मधुर रस के सेवन से शरीर के भार में वृद्धि होती है यह शरीर में जल की मात्रा (त्वचा में नमी) को बढ़ाता है। यह शरीर की सप्तधातुओं को पुष्ट करने में सर्वश्रेष्ठ है। मधुर रस के सेवन से मुख में लार की वृद्धि होती है, प्यास शान्त होती है तथा त्वचा, स्वर व बालों में भी अच्छे लाभकारी प्रभाव होते हैं। यह शरीर का तर्पण करता है।

अम्ल रस से शरीर की पाचन क्रिया सुदृढ़ होती है इससे रसों का शरीर में संचरण भी बढ़ जाता है। शरीर तथा हृदय को बल मिलता है, इससे ज्ञानेन्द्रियों को बल मिलता है, तथा खनिज द्रव्यों के शरीर से उत्सर्जन में भी सहयोग मिलता है। अतः अम्ल रस शरीर की सभी धातुओं को पुष्ट करने में सहायक है।

लवण रस से भोजन के स्वाद में बढ़ोत्तरी होती है इससे भोजन का पाचन अच्छा होता है, ऊतकों तथा त्वचा में स्निग्धता आती है, शरीर में खनिज द्रव्यों की मात्रा नियमित होती है तथा तंत्रिका तंत्र मजबूत होता है क्योंकि इसमें पानी को आकर्षित करने का गुण होता है अतः इससे त्वचा में चमक आती है तथा शरीर का सम्पूर्ण विकास होता है।

कटु रस से पाचन में सुधान आता है इससे सायनस का शुद्धिकरण होता है। शरीर की उपापचय क्रियाएं बढ़कर शरीर से वायु का निस्तारण ठीक से होता है रक्त परिसंचरण बढ़कर मांसपेशियों की पीड़ा में आराम आता है।

तिक्त रस से शरीर की ग्रन्थियों के स्राव बढ़ जाते हैं, लाला ग्रन्थियों एवं पाचन ग्रन्थियों के स्राव बढ़ने से भूख अधिक लगती है तथा खाये गये आहार का ठीक से पाचन होता है। भूख अधिक लगती है तथा साथ ही भोजन के स्वाद में बढ़ोत्तरी होती है। यह जीवाणु नाशक, जन्तुधन तथा जीवाणुधन गुण वाला है। यह शरीर का वनज कम करने, त्वक् विकार, ज्वर, दाह तथा मिचली को कम करता है।

कषाय रस, तिक्त रस से कम शीत गुण वाला होने पर भी शरीर पर शीत प्रभाव दिखाता है। इसके सेवन से मुँह में सूखापन तथा जीभ के उपर एक परत जैसी अनुभूति होती है।

विभिन्न प्रकार के भोजन से दोषों का संतुलन

आयुर्वेद में भोज्य पदार्थों के भौतिक गुणों के अनुसार भी इसको वर्गीकृत किया जाता है जैसे लघु या गुरु, शुष्क या स्निग्ध, उष्ण या शीत आदि। भोजन के यह गुण शरीर में अलग-अलग दोषों को नियमित करते हैं। एक संतुलन भोजन में प्रत्येक गुण कोई न कोई भोज्य पदार्थ अवश्य शामिल होते हैं, व्यक्ति के शरीर की बनावट तथा उसकी प्रकृति के अनुसार किसी विशेष गुण वाले पदार्थ को कम या अधिक मात्रा में उसके भोजन में शामिल किया जाता है। उदाहरणार्थ वात दोष को साम्यावस्था में रखने के लिए मधुर, स्निग्ध, उष्ण भोजन को प्रयुक्त करना चाहिए। पित्त को साम्य करने के लिए मधुर, शीत, तिक्त द्रव्य व कफ को साम्यावस्था में लाने के लिए कटु, कषाय लघु, शुष्क तथा उष्ण भोजन का सेवन कराया जाता है। अगर हम शीत प्रधान जलवायु वाले प्रदेश में रह रहें हों तो हमें अपने भोजन में शामिल करना चाहिए। इसी प्रकार शीत ऋतु में ज्यादातर लोगों के शरीर में वात रोगों के बढ़ने की प्रवृत्ति होती है अतः भोजन में गर्म शाक यूस (सूप) दालें तथा कुछ उष्ण प्रकृति वाले पदार्थों को दूध व घृत से बने पदार्थों का सेवन करने से शरीर में वात वृद्धि को रोक सकते हैं। इसी प्रकार ग्रीष्म ऋतु में भोजन में शीत पदार्थों, लस्सी, दही, मट्ठा, रसीले फल जैसे नींबू, तरबूज, खरबूज आदि के सेवन से शरीर में पित्त को बढ़ने से रोका जा सकता है।

वातिक आहार

आहार प्रकार	ज्यादा लें	कम लें
गुणों के अनुसार	उष्ण, गुरु, नम मधुर रस वाला	शीत, लघु, शुष्क, तिक्त, कटु, रस वाला
वनस्पतियाँ	शकरकंदी, शतावरी, गाजर, जैतून, कद्दू, मूली, आलू, पालक	कच्ची सब्जियाँ, मटर, फूलगोभी, पत्तागोभी, खीरा, मक्का, अंकुरित धान्य, मशरूम
फल	केला, चेरी, अंजीर, खुमानी, खजूर, अनानास, आम, पपीता, अंगूर, प्लम	सेव, नाशपाती, अनार, खरबूज
अनाज	चावल, गेहूँ, जौ	बाजरा, राई, मक्का, केक, भुना चना, जौ
दालें	मूँग, उड़द	चने की दाल, बीन, काला भट्ट, सोयाबीन
मींग और बीज	तिल, कद्दू, खरबूजे तथा सूरजमुखी की मींग, अखरोट	भुनी मूँगफली, मेवे आदि

दुग्ध पदार्थ	दूध के सभी योग जैसे पनीर, मक्खन	सूखा दूध पाउडर, आइसक्रीम
मसाले	हींग, तुलसी, लौंग, तेजपत्ता, दालचीनी, कालीमिर्च, धनियाँ के पत्ते, जीरा, मेथी, लहसुन, प्यास, अदरक, हल्दी	धनियाँ बीज अधिक मात्रा में, मेथी पत्र
तेल	सभी तेल मुख्यतः तिल का तेल	मकई का तेल
पेय	गर्म पेय, हर्बल व मसालेदार चाय, गर्म दूध, फल तथा सब्जियों के जूस (बिना बर्फ डाले)	शीतल पेय पेप्सी आदि न लें। एल्कोहल (मदिरा) ज्यादा चाय तथा काफी

पैत्तिक आहार

आहार	ज्यादा लें	कम लें
	ठंडे, मीठे व रसीले द्रव्य	अम्लीय, मसालेदार नमकीन, खट्टे व तैलीय भोजन
सब्जियाँ / वनस्पतियाँ	शतावरी, ब्रोकली,	चुकन्दर, जैतून,

	पत्तागोभी, फलगोभी, मक्का, खीरा, मशरूम, मटर, आलू, पार्सले, सेलरी, सलाद पत्ता	प्याज, अचार, मूली, पालक, टमाटर तथा शलजम
फल	सेव, केला, खजूर, नारियल, अंगूर, लीची, आम, खरबूज, अनार	आड़ू, बेरी, चेरी, संतरा, पपीता, खुबानी, अनानास, प्लम
अनाज	जौ, जई, चावल, गेहूँ	मक्का, राई, बाजरा
फलियाँ	सभी फलियाँ	दालें
मेवे तथा पदार्थ	नारियल, कद्दू तथा सूरजमुखी के बीज, बादाम	तिल, अखरोट
दुग्ध पदार्थ	फीका मक्खन, घी, दूध, पनीर, मट्ठा तथा लस्सी	क्रीम, योगर्ट, प्रोसेस्ड पनीर, खट्टा मट्ठा, आईसक्रीम
मसाले	इलायची, धनियाँ, जीरा, मेथी, नींबू, घास, पुदीना, गुलाब, हल्दी, लौंग	हींग, तुलसी, मेथी, लहसन, अदरक, सरसों के बीज, प्याज कालीमिर्च
तेल	नारियल, सूरजमुखी तथा	मकई, तिल, जैतून

	सोयाबीन का तेल	तथा मूँगफली का तेल
पेय	ठंडा दूध, पानी, नारियल का दूध, फल, तथा सब्जियों के जूस	शीतल पेय, उष्ण पेय जैसे चाय, कॉफी एल्कोहल

कफज आहार

आहार	ज्यादा लें	कम लें
	शुष्क, लघु मसालेदार भोजन, गर्म भोजन	गुरु, शीत, मीठा, अम्लीय तरल भोजन
वनस्पतियों	शतावरी, चुकंदर, ब्रोकली, पत्तागोभी, गाजर, केलरी, मटर, सलाद पत्ता, मूली, पालक आदि	एवोकेडो, फूलगोभी, मक्का, खीरा, मशरूम, आलू, कद्दू, पार्सले
फल	सेब, आड़ू, नाशपाती, बेरी, चेरी, खुबानी, सूखे फल, पपीता, अनार	केला, खजूर, नींबू, कुल के फल, अंजीर, अंगूर, आम, खरबूज, प्लम, स्ट्रॉबेरी, अनानास
अनाज	बाजरा, मक्का, राई, मिलेट	जौ, चावल, गेहूँ, पास्ता
फलियाँ	मूँग, टोफू तथा दालें	श्राजमा
मेवे तथा बीज	सूरजमुखी तथा कद्दू के	सभी मेवे तथा तिल

	बीज	के बीज
दुग्ध पदार्थ	मलाई उतरा दूध, मट्ठा, बकरी का दूध	अन्य डेरी उत्पाद
मसाले व जड़ी बूटियाँ	सभी मसाले	नमक
तेल	मकई, सूर्यमुखी व सरसों का तेल	
पेय	उष्ण पेय, हर्बल व मसालेदार चाय, फल, तथा सब्जियों के जूस	शीतल पेय, चाय, कॉफी तथा एल्कोहल

विटामिन तथा खनिज द्रव्यों के प्राकृतिक स्रोत

आयुर्वेद मतानुसार व्यक्ति अपने रोजमर्रा में लिए जाने वाले भोजन से ही विटामिन तथा खनिज द्रव्यों को ग्रहण कर सकता है। अतः हमें विटामिन एवं खनिज द्रव्यों स्रोतों को जानकर उसके अनुरूप पोषक तत्वों को अपने भोजन में शामिल करना चाहिए। हमारे भोजन में अधिक से अधिक मात्रा में सभी प्रकार की सब्जियाँ, फल, मेवे तथा अनाज शामिल होने चाहिए। जैसे कि पौधों के द्वारा विटामिन डी का निर्माण नहीं हो पाता है किन्तु जान्तव द्रव्यों से विटामिन डी प्राप्त किया जा सकता है, मछली तथा दूध से विटामिन डी प्राप्त होता है। मनुष्यों की त्वचा सूर्य की पराबैंगनी किरणों के माध्यम से विटामिन डी का निर्माण करती है।

विटामिनों के विभिन्न प्राकृतिक स्रोत

1. **विटामिन ए** – विटामिन ए को रेटिनोल भी कहते हैं। यह अच्छी नेत्र दृष्टि तथा चमकदार त्वचा के लिए फायदेमंद है। विटामिन ए के अच्छे स्रोत हैं – सेब, गाजर, मूली, कद्दू, ब्रोकली, जौं, शलजम, आड़ू, गेहूँ, मक्का, आम, संतरा, शकरकंदी आदि जान्तव द्रव्यों में अण्डा, दूध एवं मांस (यकृत) में प्रचुर मात्रा में मिलता है। विटामिन ए नष्ट हो जाता है।
2. **विटामिन बी** – विटामिन बी1 इसे थायमिन भी कहते हैं। साबुत अनाज, सोयाबीन, फलियाँ, मेवे, लीवर ये विटामिन बी1 के अच्छे स्रोत हैं।
3. **विटामिन बी2** – इसे राइबोफ्लेविन भी कहते हैं। ब्रोकली, अनाज, पालक, शतावरी तथा अण्डा दूध विटामिन बी2 के अच्छे स्रोत हैं।
4. **विटामिन बी3** – इसे नियासिन भी कहते हैं। पालक, हरी सब्जियाँ, चावलों की भूसी, आलू, टमाटर, दूध, अण्डा आदि विटामिन बी-3 के अच्छे स्रोत हैं।
5. **विटामिन बी6** – इसे पायरीडाक्सिन भी कहते हैं। यह अनाजों, मेवों, फलियों, अण्डे का पीला भाग, दूध, चिकन तथा मटन में पाया जाता है।
6. **विटामिन बी 12** – इसे सायनोकोबालेमिन भी कहते हैं। यह मुख्यतया गाय का दूध, किडनी, लीवर, सालमन मछली, में पाया जाता है। यह पेड़ पौधों में प्रायः नहीं पाया जाता।

7. **विटामिन सी** – इसे एसकोर्बिक एसिड भी कहते हैं। अमरुद, संतरा, ब्रोकली, ऑवला, नींबू, पत्तागोभी, अनानास, स्ट्राबेरी, ताजे सभी फल विटामिन सी के प्राकृतिक स्रोत हैं। ऑवले में उपस्थित विटामिन सी पकाने पर भी नष्ट होता है।
8. **विटामिन डी** – यह मानव शरीर में सूर्य की रोशनी से बनता है। इसके अतिरिक्त यह अण्डे के पीले भाग, मछली तथा लीवर से मिलता है।
9. **विटामिन ई** – इसे टोकोफेराल भी कहते हैं। यह हरी सब्जियों, सोयाबीन, सूरजमुखी के बीज, अंकुरित धान्य में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त थ्रिंप मछली तथा कौड लीवर के तेल में यह पाया जाता है।
10. **विटामिन के** – इसका शरीर में स्वयं भी निर्माण होता है। इसके अतिरिक्त यह हरी सब्जियों, जैसे सलाद पत्ता, पत्तागोभी, पालक, फूलगोभी, तथा दालों में भी प्रचुर मात्रा में पाया जाता है।
11. **खनिज द्रव्यों के स्रोत** – शरीर के उचित तथा सम्पूर्ण विकास के लिए विटामिन के साथ ही साथ कुछ खनिज द्रव्यों की भी आवश्यकता होती है। शरीर को कुछ द्रव्य बहुत खनिज द्रव्यों की भी आवश्यकता होती है। शरीर को कुछ द्रव्य बहुत कम मात्रा तथा कुछ द्रव्य अधिक मात्रा में चाहिए होते हैं। नीचे कुछ प्रमुख खनिज (जो शरीर के लिए आवश्यक हैं) तथा उनके स्रोत वर्णित हैं –
 - कैल्शियम** – यह मजबूत हड्डियों, दातों तथा तंत्रिका तंत्र के लिए आवश्यक है। यह दूध तथा दुग्ध पदार्थ, पत्तागोभी, ब्रोकली सालमन मछली तथा अन्य समुद्री भोजन से मिलता है।

फ्लोराइड – यह हड्डियों तथा दाँतों को मजबूती प्रदान करता है तथा दाँतों को सड़ने से रोकता है। यह समुद्री जीवों के मांस में पाया जात है।

आयरन (लौहा) – यह रक्त के मुख्य अंश हीमोग्लोबिन का निर्माण करता है। यह पालक, टमाटर, ब्रोकली, हरी सब्जियों हरा धनियाँ, बथुवा, शिप में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है।

आयोडीन – यह थायराइड हार्मोन का एक अंश है जो व्यक्ति विशेष के विकास को नियमित करता है। आयोडीन समुद्री भोजन तथा समुद्री नमक में भी पाया जाता है। दूध तथा गेहूँ में भी सूक्ष्म मात्रा में पाया जाता है।

फास्फोरस – यह शरीर की कोशिका तथा ऊतकों के निर्माण में सहायक होता है। यह हड्डियों दाँतों तथा शरीर की अम्लीयता या क्षारीयता को बनाये रखने में सहायक है। यह दूध, अनाज, अण्डे, मछली तथा मीट से मिलता है।

मैगनीशियम – यह स्वस्थ हड्डियों, दाँतों, तांत्रिका तंत्र तथा उचित उपापचय के लिए आवश्यक है। यह हरी सब्जियों, फलियों, मछली, मुर्गा तथा मीट से मिलता है।

किसी भी एक प्रकार के भोजन से अथवा सब्जी या फल से सभी विटामिन या खनिज प्राप्त नहीं किये जा सकते अतः स्वस्थ शरीर के निर्माण के लिए हमें अपने भोजन में सभी प्रकार के फलों, अनाज, मेवे तथा सब्जियों को शामिल करना चाहिए। शाकाहारी लोगों को अधिक मात्रा में दालों तथा हरे मटर का सेवन करना

चाहिए जिससे उचित मात्रा में प्रोटीन मिल सके। उचित मात्रा में सभी पोषक तत्वों को ग्रहण करने से शरीर स्वस्थ व पुष्ट होता है।

रसायन चिकित्सा

रसायन चिकित्सा आयुर्वेद के आठ अंगों में से एक है जिसमें तरह-तरह के उपाय बताए गये हैं जिससे कि शरीर स्वस्थ बना रहे। अष्टांग आयुर्वेद की इस शाखा का उद्देश्य लम्बी तथा स्वस्थ आयु प्राप्त करना है। इसमें दीर्घायु, तीव्र स्मरण शक्ति, स्वास्थ्य, युवावस्था, चेहरे पर चमक, तेज, बलिष्ठ शरीर तथा श्रेष्ठ ज्ञानेन्द्रियाँ शामिल हैं। रसायन का सेवन करने से उपापचय की क्रियाएं तीव्र गति से होती हैं, जिससे शरीर में जैविक बदलाव आते हैं। जरा चिकित्सा या रसायन चिकित्सा ऐसी चिकित्सा है जिससे बीमार व्यक्ति तो स्वस्थ होता है साथ ही साथ स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य में और लाभ होकर वह और तेजस्वी तथा दीर्घायु होता है। “रसायनं च तज्ज्ञेयं यज्जरा व्याधि नाशनम्”। शर्द्धधर आयुर्वेद का मूल सिद्धान्त है स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य का संरक्षण तथा आतुर (रोगी) व्यक्ति के रोग का संशमन। रसायन चिकित्सा से आयुर्वेद के इसी सिद्धान्त को पूर्ण किया जाता है। वृद्धावस्था के कारण शरीर में जो टूट-फूट होती है रसायन के सेवन से उसे सामान्य कर शरीर के बल में वृद्धि की जाती है। इससे शरीर की कोशिकाएँ पुनर्जीवित होती हैं तथा रोगी में युवावस्था के लक्षण दिखाई देते हैं। रसायन सेवन से व्यक्ति का मानसिक, शारीरिक तथा बौद्धिक सभी तरह का विकास होता है। रसायन के सेवन से शरीर में वृद्धावस्था के लक्षण शीघ्र प्रकट नहीं हो पाते। इसके सेवन से शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि होती है, तथा शरीर का ओज बढ़ता है। रसायन चिकित्सा में आमलकी, हरड़, त्रिफला, भृंगराज, अश्वगंधा, पुनर्नवा, तथा चित्रक आदि औषधियों का प्रयोग किया जाता है। रसायन औषधियाँ पुरुषत्व को भी बढ़ाती हैं तथा व्यक्ति

को स्वस्थ तथा दीर्घ आयु प्रदान करती हैं। अतः रसायन चिकित्सा का विधिवत सेवन करने से मनुष्य पुनः अपने पूर्ववत स्वास्थ्य व युवावस्था को प्राप्त करता है।

रसायन चिकित्सा के सन्दर्भ में चरक संहिताकार लिखते हैं कि रसायन का सेवन करने से मनुष्य दीर्घ आयु स्मरणशक्ति, मेधा, आरोग्य, प्रभा, तरुणावस्था, वर्ण, स्वर की उदारता, देह एवं शरीर को इन्द्रियों में उत्तम बल की प्राप्ति करता है।

दीर्घमायुः स्मृति मेघाभारेग्यं तरुणं वयः।

प्रभा वर्ण स्वरौदार्यं देहेन्द्रिय बलं परम॥

चरक चिकि० 1/7